महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

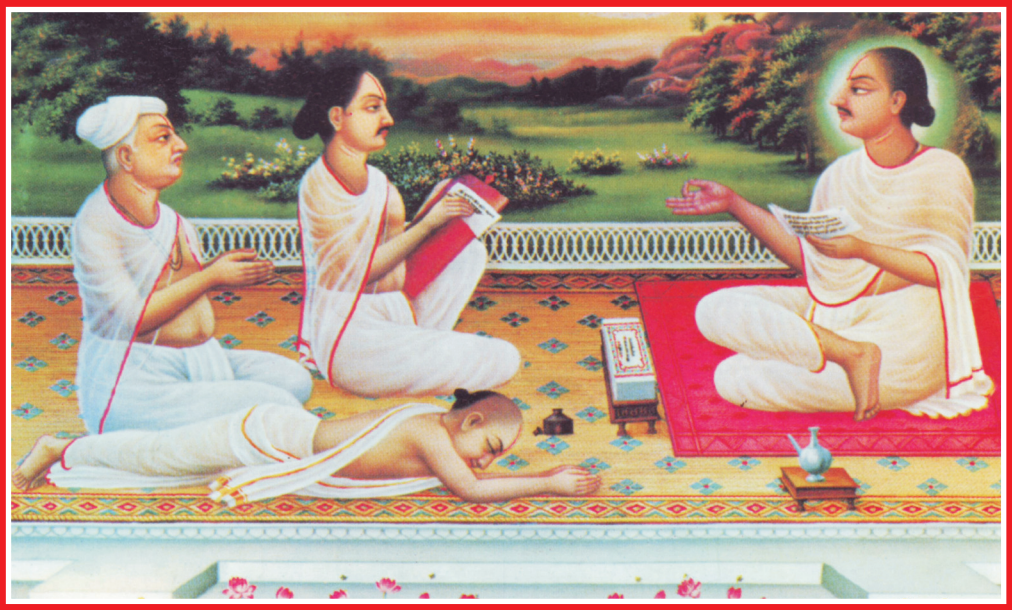

दशमस्कन्ध

राजस फल प्रकरण

(अध्याय ५६–६०)

खंड १२/ख

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

अध्याय ५६

भौमासुरका उद्धार और
सोलह हजार एक सौ राजकन्याओंके साथ भगवानका विवाह

सर्वासामुद्धृतिः पूर्वं संक्षेपेण निरूपिता।
दशमे विस्तरेणाह तामेवान्यविभाषया।।का.१।।

पहले सबोंकी जो उद्धृति कही है, वह संक्षेपमें कही है, उसको ही उत्तरार्धके इस दशम अध्यायमें दूसरी भांति विस्तारपूर्वक कहते है।।१।।

यदर्थमवतीर्णोऽसौ नात्यन्तं तत्र मृग्यते।
हेतुरित्यत्र निर्णीतमतस्ता जगृहे हरिः।।का.२।।

जिस कार्यकेलिए आप प्रकट हुए है, उसमें क्या हेतु है? उसकी तलाश वहां विशेष करनेकी आवश्यकता नहीं, यों यहां निर्णय किया हुआ है. अतः उनको हरिने ग्रहण किया।।२।।

कारिकार्थ पूर्ण.

स्त्रियोंके (सामान्यरीतिसे) विवाहका निरूपण हुवा जिससे पराक्रम सुननेमें नहीं आया, इससे उसकेलिये राजा पूछता है, यदि सर्वकर्म वीर्यवाले होते हैं तब वे भक्तिको उत्पन्न करते हैं.

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ंगधन्वनः।।१।।

राजा परीक्षितने कहा कि जिसने स्त्रियां अपने पास रोक रखी थी, उस भौमासुरको जिस प्रकार और जिस कारणसे मारा, वह सर्व भगवानका चरित्र कहो।।१।।

भगवानने जैसे मारा. मारनेवाले भगवान् हैं इसलिये मारनेमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, केवल किस प्रकार मारा यही पूछना है, जिसमें ही सन्देह है, नरकासुर नाम न कहकर भौम नाम यह बतानेकेलिये दिया कि भगवानका ही पुत्र है, क्योंकि 'भूमि' भगवानकी पत्नी है. उसने जिसको उत्पन्न किया, वह हरिका ही पुत्र कहा जाता है. जैसे सब ही मारे गये वैसे ही यह भी मारा गया, तो फिर इसमें क्या विषेशता है? यदि यों कहो तो, उसका उत्तर देते है कि जिसने

राजाओंकी सोलह हजार कन्याएं लाकर बन्दकर रखी, जो स्थानसे वा स्वरूपसे उसको मारना, सरल होता तो वे सब मिलकर उसको मार देते, क्योंकि (किसीकी) कन्या हरी जाय, यह लज्जाकी बात है, इससे जाना जाता है कि वह सब प्राणियोंसे मारा नहीं जाता, इस प्रकार यह कार्य कठिन होनेसे लौकिक ढंगसे कैसे मारा जाय, ऐसे विचार भगवानके मनमें स्फुरित हुए. वे कन्याएं प्रसिद्ध थी उनको केवल रोक क्यो रखा? उनसे भोग क्यों नहीं किया? उनको भगवान् किस तरह हरणकर लाये, जिस पराक्रमसे यह कार्य किया, जैसे आप उचित समझ वैसे कहिये. यों कहनेसे उनके विवाह होने पर लोकमें क्लिष्टता होती हुई भासती है यों जताया है. युक्तिसे तो इस प्रकार समझा जाता है कि यह अक्लिष्ट है, क्योंकि यह शार्गधन्वा हैं, जो समर्थ होता है उसको कार्य करनेमें परिश्रम नहीं होता है अर्थात् उसका कार्य क्लिष्टताके बिना ही होता है।।१।।

वहां प्रसंगसे उनका विवाह हुआ, यों कहनेकेलिये 'इन्द्रेण' श्लोकमें कहते हैं कि भगवान् देवोंके कार्य करनेकेलिये प्रवृत्त हुए हैं.

श्रीशुक उवाच

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्।।२।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि जब इन्द्रने आकर भगवानको जताया कि भौमासुर छत्र, कुण्डल और अमराद्रिमें जो मेरा 'मणिपर्वत' नाम स्थान है, ये तीनों ले गया है. यह जानकर भगवान् सत्यभामाके साथ गरुड़ पर विराजमान होकर प्राग्ज्योतिष नामवाले नगरको पधारे।।२।।

नरकासुरने पहले जब दिग्विजय की थी उसमें इन्द्रको जीतकर, उस विजयकी प्रसिद्धिकेलिये तीन वस्तुएं ली थी. राजत्वकी प्रसिद्धि हो, इसलिये छत्र, छत्र द्वारा इन्द्रत्वको ग्रहणकर लिया, अदिति और कश्यपके पुत्रपनका माहात्म्य मिटाते, जैसा नहीं है, यों समझकर कश्यपसे भगवान् बड़े हैं इस प्रकार पिताका उत्कर्ष सिद्ध हो जाने पर 'इयं वा अदितिः' यों अदितिरूपमें रूपको जो विशेष प्रकाशित करनेवाले उसके कुण्डल थे उनको उस(इन्द्र)से लेकर अपनी माता 'भूमि'को दिये तथा त्रैलोक्यका आधिपत्य दूर करना चाहिये. उनमें जहां जो रहता है साधारण तौर पर उस स्थानका आधिपत्य दूर नहीं करना चाहिये, इसलिये भूमि पर जो उसका आधिपत्य है उसको दूर करनेकेलिये मेरूपर्वत पर जो इन्द्रका

अमर स्थान है वह भी भौमने हर लिया. इससे अपने स्थानका आधिपत्य दूर ही किया, इसलिये पातालके आधिपत्यके निराकरणकेलिये कुछ नहीं किया, स्वर्गका स्थान भी ग्रहण करना चाहिये, जिसकेलिये उद्यम हो रहा है, अन्य अवतारोंमें अवतार लेनेका जितना प्रयोजन होता है केवल उतना ही कार्य करते हैं उससे अधिक नहीं करते, वामन, भगवान् हैं वे पुत्रको मारना नहीं चाहते हैं. क्योंकि भाईसे पुत्र अधिक प्यारा होता है, अदिति और भूमि दोनों भक्त हैं, अपनी अपेक्षासे भी पुत्र प्यारा होता है, इसलिये पुत्र(भौमासुर)ने जब अपनी माता(भूमि)को कुण्डल दिये, तब उसको रोका नहीं. जब भगवान् विशेष अवतार लेते हैं तब सर्वगत तेज उसमें ही रह जाता है, अतः वामनरूप भगवान् उदासीन है, इसलिये इन्द्र उनको प्रार्थना न कर भगवान् कृष्णको ही प्रार्थना करने लगा, जिससे माता(अदिति)के और बन्धु(वामन)के कुण्डल हरे गए हैं तथा अमराद्रि स्थानका भी हरण हो गया है, यह भौमने अधिक ग्रहण किया है यह 'चेष्टित' पदसे बताया है, इस प्रकार सर्व समाचार भगवानको जताये, उनके पुत्र दूसरेसे मारे नहीं जाते पहले भगवान् चतुर्मूर्तिरूप थे, उनमेंसे एक तपस्या करती है, दूसरी पालना करती है, तीसरी भोग करती है, और चतुर्थ शयन करती है. उनके कर्मोंको प्रवृत्ति रहटकी घटिकाओंके समान होती रहती है. जो मूर्ति तपस्या करती है वह फिर परिपालन करती है, जो परिपालन करती है, वह भोग करती है, जो भोग करती है वह शयन करती है और जो शयन करती है वह तपस्या करती है, क्रियाका काल हजार वत्सर है उसमें यह व्यवस्था है, जो तपस्या करती है, वह उठती है, जो कोई अपनेलिये तपस्या करते हैं, उन पर प्रसन्न होती है, वहां किसी समय भूमि तपस्याकर रही थी. सन्ध्याकालमें भगवान् जाग्रत हुए(उठे) वरकेलिये उसको प्रेरणा की कि जो चाहती हो, वह मांग ले, यों कहने पर भूमिने सन्ध्या समय पुत्र मांगा, इस प्रकार ऐसे समय वर प्राप्त करनेसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह यह 'नरक' है, ऐसे कालमें जन्म लेनेके कारण 'असुर' हुआ, जब ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ तब भूमिने भगवानकी प्रार्थना की कि यह मारने योग्य नहीं होना चाहिये, अर्थात् आप इसको मारना नहीं, तब भगवानने कहा कि, तेरी राय लिये बिना नहीं मारूंगा, अपना अस्त्र 'नारायण' नामवाला उसको दिया, जब तक इसके पास अस्त्र होगा, तब तक मरेगा नहीं. वह असुर था इसलिये महादेवजीका भक्त हुआ, महादेवसे 'त्रिशूल' प्राप्त किया, वह त्रिशूल नारायणास्त्रके समान था शिवभक्त होनेसे

त्रिशूल अपने पास रक्खा और नारायणास्त्र अपने पुत्र भगदत्तको दिया, अतः मारनेमें शेष भूमिकी सम्मति ही लेनी रही, सत्यभामा भूमिकी रूप है।।२।।

अतः नरकासुरके वधकेलिये भगवान् सत्यभामाके साथ गरूड़ पर विराजमान होकर उसके नगरमें गये जिसका वर्णन 'सभार्यो गरुडारूढः' श्लोकमें करते हैं.

सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्यौतिषपुरं ययौ।
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम्।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम्।।३।।

भगवान् पत्नीके साथ गरुड पर बैठकर प्राग्ज्योतिषपुर नाम नगरमें गए, जो नगर गिरिदुर्ग, शस्त्रदुर्ग, जलदुर्ग, अग्निदुर्ग और वायुदुर्ग इन्होंसे दुर्गम तथा घोर व दृढ़ दस सहस्र मुर दैत्यकी पाशोंसे चारोंतरफसे घिरा हुआ था।।३।।

'प्राग्ज्योतिषपुर' यह उस नगरका नाम था, जब तेज, जल और अन्तरूप सृष्टि बनी, उससे पहले यह नगर बना था, यह जतानेकेलिये वैसा नाम रखा हुआ है. इस नगरको छः छिपानेवाले व रक्षार्थ दुर्ग(किले) थे. १.पहले गिरि ही दुर्ग थे, अर्थात् चारोंतरफ बड़े-बड़े पर्वत थे जिससे घोड़े पर सवारका वहां जाना कठिन था. अब उसकी कामरू देशसे प्रसिद्धि है, २.दूसरे शस्त्रोंके दुर्ग थे, चारोंतरफ खड्ग आदि शस्त्र इस प्रकार सजाकर रखे थे जो जानेवालोंको प्रतिबन्धक होते थे जैसे असिपत्रवन होता है ३.इसके पश्चात् मध्यमें चारोंओर जल ही जल, इसके बाद, ४.अग्नि ही अग्नि इसके अनन्तर ५.वायु इसके पश्चात् पंचपर्वा अविद्याका अधिष्ठातादेव मुर उसके दृढ पाश(बन्धन) थे, जो पहले दुर्गोंकी अपेक्षा भी अन्दरके आवरणरूप थे, इससे यह समझाया कि एक दुर्गसे दूसरा दूर्ग क्रमसे जबर्दस्त था, चारोंतरफ प्रवृत था. इन्होंने कोई मार्ग भी खुला न छोड़ा था, स्वयं तो प्रकाशसे विचरण करनेवाला था, तेजसे लेकर तीन आवरण ऊपर भी थे, यह रूढ़ि है, जिससे कोई जानेमें समर्थ नहीं।।३।।

वैसे भी नगरका लौकिक उपायसे वध करनेकेलिये क्रमसे दुर्गोंका नाश 'गदया' श्लोकसे कहते हैं.

गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः।
चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना।।४।।

भगवानने गदासे गिरिदुर्ग, बाणोंसे शस्त्रदुर्ग, चक्रसे अग्निदुर्ग, जलदुर्ग

और वायुदुर्ग तोड़े तथा खड्गसे मुरपाश काट डाले।।४।।

गदाके प्रहारोंसे पहाड़ोंको तोड़ डाला, जिससे जब प्रथम परदा टूटा, तब मनुष्योंका वहां जाना सुगम हो गया, वह ही अब मार्ग है, बाणोंसे शस्त्रोंके दुर्ग छिन्न-भिन्न कर दिया सुदर्शनसे जल, अग्नि और वायुको खींच लिया, आदिमें अग्निमें प्रवेश सजातीय निराकरणकेलिये, वह उसमें प्रवेश दोनोंका रोकनेवाला होता है, उसका कार्य जल है, पश्चात् वायु कारण है, इसलिये बाजूमें स्थितोंका पीछे उसमें लौटकर प्रवेश होता ही है, मुर दैत्यके पाशोंको तलवार एवं नन्दकसे छेदा।।४।।

इसप्रकार आवरणोंको दूरकर दूरसे मारनेके साधन जो पाषाणोंके फेंकनेवाले यंत्र थे उनको छेदन किया, जिसका वर्णन 'शंखनादेन' श्लोकमें करते हैं.

शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम्।
प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः।।५।।

गदाधर भगवानने शंखके नादसे यन्त्र और मनसे शूरवीरोंके हृदय तथा बड़ी गदासे कोट तोड़ डाले।।५।।

मनस्वियोंके हृदयोंको और उत्साह शक्तियोंके पश्चात् कोट भी तोडे, हृदय और उत्साह शक्तियोंको शंखके नादसे और कोटको बड़ी गदासे, इस प्रकार वहां स्थित देवोंको अपनी नाश करनेकी सामर्थ्य प्रकटकर दिखाई 'निर्विभेद'में 'निर्' उपसर्गसे यह सूचना दी यों करनेसे वहां निकट पहुंचनेमें शेष कोई प्रतिबन्ध न रहा. भगवानका नाम 'गदाधरः' देकर यह बताया है कि आगे यदि युद्ध होवे तो मैं सावधान हूं।।५।।

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम्।
मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात्।।६।।

सोया हुआ पांच सिरोंवाला मुरदैत्य युगका अन्त करनेवाली वज्र समान भयानक पांचजन्य शंखकी ध्वनि सुनकर जलसे उठकर खड़ा हुआ।।६।।

इसप्रकार सब आवरणोंको तोड़कर सावधान हो गये शंखनादका माहात्म्य बतलाते है कि 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' जिस शंकाकी ध्वनी, भगवानके मुखसे निकले वायुसे पुरित होनेके कारण दानवोंके दर्प(घमंड)को नाश करनेवाली है, ध्वनी होनेके पश्चात् दर्पसे खाईके

जलमें सोया हुआ, उस नादसे अपना दर्पनाश समझ इस प्रकार नाद कैसे हुआ? इसकी जांच करनेकेलिये उठा, इस शंखका केवल माहात्म्य दर्शकका नाशक नहीं है किन्तु नाद स्वरूपसे भी दर्पनाशक है. इसकी सत्यता दिखानेकेलिये कहते हैं कि प्रलयके समयमें मारनेके कार्यसे जो प्रसिद्ध वज्र है, उससे भी भयानक, शंखकी ध्वनी है जिससे अभिमानियोंका दर्प दूर करती है, यह बात तो प्रसिद्ध है कि दैत्योंका दर्प प्रलयके समय भी रहता है, अतः दर्पके कारण निश्चिन्त होकर सोया हुआ भी ध्वनि सुनते ही उठकर खड़ा हो गया और वह दैत्य तो मारनेके योग्य ही है, कारणकि भगवानके सन्निधानमें सम्मुख होते हुए भी, भगवानसे विरुद्धहोके खड़ा है, क्योंकि यह दैत्य अविद्याका सम्बन्धी है, इसको बतानेकेलिये कहा है कि 'पंचशिराः' पांच शिरोंवाला है 'मुर' इतना ही नाम है 'जलात्' पानीसे कहा, जिसका तात्पर्य है, नगरके चारोंतरफ रक्षाकेलिये खाई खोदी हुई है, जिसमें पानी भरा रहता है।।६।।

'त्रिशूल' श्लोकसे कहते हैं कि युद्धकेलिये प्रवृत्त होना उचित ही है.

त्रिशूलमुद्यम्य सूदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखैरभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः।।७।।

प्रलयकालके सूर्य व अग्निके समान तेजवाला होनेसे जो देखा भी नहीं जा सकता है, वैसा वह दैत्य पांचों मुखोंसे मानो त्रिलोकोको ग्रसता हुआ त्रिशूलको लेकर भगवानके सामने यों दौड़कर आया, जैसे सर्प गरुड़ पर दौड़ आए।।७।।

'सुदुर्निरीक्षण' जिसको देखना ही अशक्य है, उसके साथ कौन लड़ सके? इससे वीरताको किसीकी भी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, यह सूचित किया है और विशेष यह है कि पांचजन्य शंखकी ध्वनी तो प्रलयके वज्रके समान है किन्तु इसकी देहकान्ति भी प्रलयके सूर्य तथा अग्निके समान है, उससे भी तेज होनेसे युद्धमें निःशंक था, जो महाभूतोंको भी खानेकेलिये समर्थ है, वह कैसे जीता जा सकता है, इसको सिद्ध करनेकेलिये कहा है कि पांच मुखोंसे चारों दिशाओंमें और ऊपरके सब लोकोंका भक्षण करता हुआ शान्त न होता है, उसका केवल देखना ही भयानक है, युद्ध करनेकेलिये शक्तिमान् नहीं है, यह जतानेकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे भक्ष्य सर्प गरुडके पास दौड़ जाता है, वैसे यह भी मरनेकेलिये भगवानके पास दौड़के गया।।७।।

गये हुवेके पराक्रमका वर्णन 'आविध्य' श्लोकमें कहते हैं.

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पंचभिः।
खं रोदसी सर्वदिशोऽन्तरं महानापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत्।।८।।

वेगसे त्रिशूलको फिराकर गरुड़ पर चलाया और पांचों मुखोंसे गर्जना की, उसकी गर्जनाका नाद अन्तरिक्ष, पृथ्वी, सब दिशा और आकाशमें भर गया, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड घिर गया।।८।।

त्रिशूलको जल्दी ऊंचा उठाकर वा फिराकर जैसे दूसरा सावधान न हो सके, वह भगवानको देखनेमें समर्थ नहीं था इसीलिये गरुड़के ऊपर उसका प्रहार किया, भगवानको क्यों न देख सका? इस शंकाका निवारण आचार्यश्री करते हैं कि अविद्या भगवानको अपना विषय नहीं बना सकती है कालान्तरमें अथवा कालके अनन्तर ही भगवत्प्राप्ति व दर्शन होते हैं, इससे कालरूप गरूड़को व्याकुल किया. 'निरस्य' फेंककर यों कहनेसे यह बताया कि हमारे बलको त्रिशूल समर्थित नहींकर सकता है, इसलिये तिनके समान फेंककर उसकी अवहेलना की इसके अनन्तर अविद्यासे उसको मोहित करनेकेलिये पांचों मुखोंसे ध्वनीकी विशेष प्रकारसे शंख ध्वनी की, दूसरा तो एकप्रकारसे गर्जना करता है और मैं पांच प्रकारसे करता हूं, यह बतानेकेलिये यों ध्वनी की, उस नादका महत्व कहते हैं, समस्त जो विवर हैं उनको पूरित करता हुआ ब्रह्माण्डको घेर लिया. ब्रह्माण्डका भेदनकर ऊपर भी वह नाद गया, तत्त्वोंको अविद्याका मोह होता है, यों अलौकिकपनसे शब्दका बाहर जाना हो सकता है, ब्रह्माण्ड भी अण्ड है इससे रोमकूपकी तरह उसमें भी छिद्रपन है मध्यमें सर्वत्र भरा नहीं जाएगा, इसलिये उसकी विशेष गणना की है, 'ख' आकाश मध्यमें स्थित अथवा समस्तका हृदयाकाश, पृथ्वी, आकाश, सब आठ दिशाएं मध्य, शब्दके आघातसे पैदा हुए दूसरे शब्द भी वैसे ही होंगे, यों शंकाकर उसके समाधानकेलिये कहते हैं कि 'महान्' वह बड़ा नाद है, इस नादका सर्वत्र भरजाना व्यापक न्यायसे है।।८।।

इसप्रकार उसका पराक्रम कहकर, इसके प्रतीकारकेलिये जो भगवानने चरित्र किया उसका वर्णन 'तदापतत्' इस श्लोकमें कहते हैं.

तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्यामभिनत् त्रिधौजसा।
मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्ययमुञ्चत।।९।।

गरुड़ पर गिरते हुए त्रिशुलको देख भगवानने अपने दो बाणोंसे तीन

टुकड़ेकर डाले और तेजसे उसके मुखको भर दिया, जिससे क्रोधित हो उस दैत्यने भी भगवान् पर गदा फेंक दी।।९।।

दैत्यका फेंका हुआ त्रिशूल गरुड़के ऊपर पड़ा नहीं किन्तु वहां ही स्थिर हो गया, उस त्रिशूलके दो वा तीन भेद(टुकडे वा भाग) करते हैं, वह त्रिशुल त्रिसत्य जो देव है, उनके भी नाशक है, इससे यह भी सूचित किया, गरुड़ कोमल पांखोंवाला है, जिससे यह बताया कि वह स्वयं उसको हटा नहीं सकता है, भगवानका नाम 'हरि' है अर्थात् सर्वका दुःखहरण करनेवाले हैं, तब गरुड़का दुःख कैसे न हरेंगे? अवश्य हरेंगे, इसलिये भगवानने निश्चय किया कि इसका प्रतीकार अवश्य करना चाहिये, जिससे दो बाणोंसे उसको तोड़ तीन टुकड़े किये. तीन भाग होनेसे फिर वह बनता नहीं, इससे यह जाना जाता है कि यह त्रिशूल दैत्य था, तेजसे यों किया, जैसे उसका अधिष्ठाता देवता भी छिन्न हो गया, न केवल इतना किन्तु तेजसे करनेसे उसका तेज भी टूटकर तीन भागोंमें बंट गया, केवल त्रिशूलका तेज सहित छेदन नहीं हुआ किन्तु वह स्वयं भी ताडित हुआ, उसके रूपसे मनुष्योंको उतना डर नहीं होता है जितना उसकी आवाजसे भय उत्पन्न होता है इसलिये उसके मुखोंको भी ताड़ित किया अर्थात् शरोंसे पांचों मुखोंको भर दिया जैसे उनसे शब्द न निकल सके. और उसके हृदय एवं ललाट पर भी आघात किया जिससे उस दैत्यने भी क्रोधित होकर भगवान् पर दूरसे अपनी गदा फेंकी क्योंकि जो तिरस्कृत होता है, वह बहुत क्रोधवाला होता है, इसलिये पासमें आनेकी सामर्थ्य न होनेसे दूरसे भी गदा मारी।।९।।

वह गदा भी देवतासे अधिष्ठित थी, इसलिये भगवानने अपनी गदासे ही उसका निराकरण किया यह 'तामापतन्ती' श्लोकमें कहते हैं.

ताम् आपतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया।।१०।।

संग्राममें आती हुई उस गदाके भगवानने अपनी गदासे हजारों टुकड़ेकर डाले, तब वह दैत्य दोनों हाथ उठाकर दौड़ता हुआ भगवानके सम्मुख आया, तब भगवानने लीलामात्रसे उसका सिर चक्रसे काट डाला।।१०।।

विशेषकर कौमोदकीसे तोड़ा हजारों टुकड़ेकर दिए, जिससे वह पुनः जोड़ा न जा सके. सजातीयसे सजातीयको नाश करना योग्य नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं, युद्धमें इस प्रकार करनेमें दोष नहीं है. 'गदाग्रज' शब्द अनुप्रास अलंकार

या स्त्रियोंके हितकारी अर्थमें दिया है. बाहुओंको ऊपर उठाकर इसलिए आाया कि भगवानको पकड़ लूं, किन्तु भगवान् तो उसका स्पर्श करना नहीं चाहते हैं, क्योंकि असुर होनेसे अयोग्य है. इसलिए उसका कालसे ही छेदन किया, अतः कहा है कि उसके सिरोंको चक्रसे काट डाला, उसके पांच अविद्याके पर्वरूप हैं, जिनके कट जानेसे फिर प्रतीतिसे भी संसार देखनेमें नहीं आवेगा. 'लीलया' पद देकर यह बताया कि इसमें सुदर्शनको सामर्थ्य व परिश्रम भी नहीं हुआ. अपना ही पौरुष फैला हुआ है, किन्तु बिना आयासके. यद्यपि आयास प्राप्त है, पर उसकी निवृत्ति हो गई अथवा उस स्थानमें लीला ही फैली होगी, जिससे संसार निरोधरूप ही प्रवृत्त होवे, न कि अन्य संसार प्रवृत्त होगा, अतः 'लीलया' पद दिया है।।१०।।

यह दैत्य है, इस कारणसे यदि सिरोंके गिर जाने पर भी प्राण हृदय आदिमें रह जावे, तो इस पर उसकी अग्रिम अवस्था 'व्यसुः पपात' श्लोकमें बताते हैं.

व्यसुः पपाताम्भसि निकृत्तशीर्षो निकृत्तशृंगोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः।।११।।

इन्द्रके वज्रसे कटे हुए गिरि जैसे गिर पड़ते हैं, वैसे ही यह भी सिरोंके कटनेसे प्राण मुक्त हो, जलमें गिर गया. उसके सातों पुत्र पिताके वधसे दुःखी हुए और क्रोधमें श्रीकर पूर्ण उद्यत हो, बदला लेनेके वास्ते आए।।११।।

उसके प्राण निकल गए, पृथ्वी पर नहीं गिरा. यदि पृथ्वी पर गिरता तो दैत्य होनेसे कदाचित् फिर इसमें प्राणोंका उद्गम(आना) हो जावे, अतः जलमें गिरा, क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि 'आपो हि रक्षोघ्नीः' जल राक्षसोंके हन्ता है, भगवानका नाम 'अजित' देकर यह सूचित किया है कि सिर अविद्यारूप थे, यदि वे उस रूपसे कदाचित् उत्पन्न हो जाय? इस शंकाको मिटाते हैं कि भगवान् किसी माया आदिसे भी जीते नहीं जाते हैं, इसलिए भगवानने जिस अविद्याको नष्ट कर दिया, वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है, उसके सिर पूर्णतया ऐसे काटे गए थे, जैसे फिर वे जुड़ न सके अथवा उसका छेदन आधिदैविक था. अविद्याका ऐसा नाश हुआ जैसे इन्द्रके वज्रसे नष्ट पर्वत फिर उत्पन्न होना नहीं चाहते हैं, क्योंकि हम उत्पन्न होंगे तो इन्द्र मारेगा, वैसे भगवानके भयसे अविद्या भी सदैवकेलिए नाश हो गई. उसके जो सात पुत्र थे, वे व्यसनरूप थे, उनका भी भगवानने

अधिकरण सहित नाश किया, यह कहनेकेलिए उनके आगमनको कहते हैं, यद्यपि वे कुछ करनेमें समर्थ नहीं हैं क्योंकि मूल टूट जाने पर शाखाएं भी नष्ट जैसी हो जाती हैं, वे पत्र-पुष्प नहीं दे सकती है, अतः किसी कामकी नहीं है, जैसे ही ये भी फिर भी पिताके वधसे दुःखी एवं क्रोधित हुए. क्रोधसे बदला लेनेकेलिए आए, उनमें स्वतः तो सामर्थ्य नहीं थी, किन्तु क्रोधसे भी कदाचित् बदला लिया जावे, इस विचारसे आए. यह बाहरकी सामग्री बताई, भीतर क्रोध था।।११।।

उनकी प्रसिद्धिकेलिए उनके नाम 'ताम्रोऽन्तरिक्षः' श्लोकसे गिनाते हैं.

ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुः वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे भौमप्रयुक्ता निरगुर्धृतायुधाः।।१२।।

ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु वसु, नभस्वान् और सातवां अरुण ये सब पीठ नामवाले सेनापतिको आगेवान बनाकर भौमासुर प्रेरित युद्धभूमिमें गए, फिर शस्त्रोंको धारण किया।।१२।।

'ताम्र' इस नामसे उसका वर्णन क्रोधरूप बताया है, 'अन्तरिक्ष' नामसे बताया है कि सब प्रकारकी क्रिया करनेमें यह असमर्थ है, 'श्रवण' नामसे आकाशरूप कहा है, 'विभावसु' नामसे सूर्य एवं अग्निके समान बताया है, 'वसु' नामसे भीष्मादिसे भी अधिक बताया है, 'नभस्वान्' नामसे वायु कहा है या उसके सदृश वहां 'अरुण' नामसे सबको जगानेवाला अथवा वर्ण भयानक सातवां कहनेसे यहां क्रम विवक्षित है, यह जताया है. 'पीठ' उन सातोंका आधार है, नरकासुरका सेनापति है, ये सब युद्धकेलिए भौमसे प्रेरित अपने स्थान पर नरकासुर इसलिए भेजे थे कि पिताके वधसे ये मुझसे भी विशेष युद्ध करेंगे, युद्धकेलिए पहले ही निकले हुए शस्त्रोंको बादमें धारण किया. इससे युद्ध करनेका निश्चय प्रकट किया।।१२।।

अनन्तर शस्त्रोंको फेंकना आरम्भ किया यह कहते हैं.

प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः शक्त्यर्ष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणैरमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह।।
तान्पीठमुख्याननयद्यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः।।१३।।

ये क्रोधसे आविष्ट हो भगवानके निकट आकर, हर एकने छः छः आयुध (बाण, तलवार, गदा, बरछी, गुर्ज और त्रिशूल) चलाए, अमोघ पराक्रम भगवानने अपने असाधारणसे उस शस्त्रजालके टुकड़े-टुकड़ेकर काट गिरा

दिए।।१३।।

'आसाद्य'का तात्पर्य बताते हैं कि भगवानके समीप आकर छ प्रकारके आयुध भगवान् पर चलाने लगे, जिसका निरूपण करते हैं 'शरान्' इससे लेकर अन्य भी 'अर्ष्टि' यह विशेष आयुध है, सातोंमेंसे हर एकने छः प्रकारके आयुध चलाए, यद्यपि जानते थे कि भगवान् अजेय हैं. तो भी क्रोधकी अधिकतासे यों करने लगे. इस प्रकार जब उन्होंने किया, तब भगवानने उसका जो प्रतिकार किया वह कहते हैं. भगवानने अपने असाधारण अमोघ बाणोंसे उनके शस्त्रजालके तिल-तिल जितने टुकड़ेकर डाले, यदि भगवान् अपने अमोघबाण नहीं चलाते तो यह शस्त्रजाल टूटता नहीं क्योंकि ये सब शस्त्र अपने-अपने देवताओंसे अधिष्ठित थे, जैसाकि बाण अग्निसे, खड्ग दुर्गासे, गदा वायुसे, अर्ष्टि भी वरुण आदिसे, शक्ति मायासे, शूल शिवसे अधिष्ठित था. इन देवताओंमें भगवानने ही अपनी सामर्थ्य स्थापित की है तो फिर भगवानने उनको कैसे काट डाला? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् अमोघ वीर्य है अर्थात् भगवानका पराक्रम कभी भी निष्फल नहीं जाता है, भगवानका वीर्य अपनेमें तो अमोघ रहता है, दूसरे पात्रमें जाने पर पात्रानुसार मोघ हो जाता है, अतः अमोघवीर्यसे मोघवीर्य नष्ट हो गए. तिल-तिल जितना होनेसे लोहका पदार्थ भी पुनः बन नहीं सकता है. 'ह' शब्द आश्चर्य प्रकट करनेकेलिए दिया है, प्रयोजकके अभावसे इतना नहीं करना चाहिए था तो भी अपना अक्लिष्टकर्मत्व दिखानेकेलिए यों पराक्रम दिखाया गया है, शस्त्रोंका विनियोग कहकर, अब शस्त्र चलानेवालोंका विनियोग बताते हैं, 'यमक्षय' मुरकी तरह फिर आवृत्ति न हो, इसलिए इनको अक्षय दण्ड दिया है जिस 'पीठ' नामवाले सेनापतिको अपना बचानेवाला जान ले आए थे, उसका ही पहले नाश किया, क्योंकि उसके नाशसे सबका उत्साह नष्ट हो जायगा, अलौकिक प्रकारसे मूर्च्छा आदि द्वारा उनका नाश नहीं किया, किन्तु चारो अंग एवं कवच नष्ट किया, पिताके पांच अंश इनमें प्रतिष्ठित थे, इसलिए उस अंशके निवृत्तिके वास्ते सिर आदिका छेदन किया गया. १.मस्तक, २.जंघा ३.भुजा और ४.पाद इन चारों अंगोंका छेदन किया, जिससे सिरसे ज्ञान और पादसे गति नाश हुई, उत्पत्ति और कर्म मध्य अंगोंसे नाश हुए, इस प्रकार यह क्रम बताया है।।१३।।

अनन्तर मुर और उसके पुत्रोंको जो फलरूप नरक मिलता था, उसके

निराकरणकेलिए 'स्वानीक' श्लोकमें प्रवृत्तिको कहते हैं.

स्वानीकपानच्युतचक्रसायकैः तथा निरस्तान्नरको धरासुतः।
निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैः गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत्।।१४।।

भगवानके बाण और चक्रसे अपने सेनापतियोंको मरा हुआ देख, पृथ्वी का पुत्र नरकासुर बहुत क्रोधमें आकर समुद्रसे प्रकट हुए, मद झरते हुए हाथियोंकी सेना लेकर बाहर निकला।।१४।।

नरकासुरको जितानेवाली सेनाके रक्षक जब मारे गए, तब नरकासुरकी प्राप्ति हुई अर्थात् वह बाहर निकल आया. अज्ञानसे या व्यसनोंसे ही नरक सिद्ध होता है. उनके निराकरण होनेसे यद्यपि स्वयं निराकृत हो गया, तो भी लौकिक साधनोंसे जीत होगी यों समझ जिनका मदजल बह रहा था, ऐसे समुद्रसे उत्पन्न मस्त हाथियोंको लेकर युद्धके वास्ते बाहर आया. भगवान् तो अच्युत हैं, उनकी तो किसी भी अंशसे क्षति नहीं हो सकती है, नरकासुर ही चक्रसे मारा गया, दूसरे बाणोंसे नष्ट किए गए. यों साधनसहित साध्योंका अनुवाद है. 'तथा' शब्दका भावार्थ है कि नमूना भी वही है, अनन्तर उसकी अपेक्षा हस्ती समर्थ बलवान् है, यों सूचना करनेकेलिए पहलेका अनुवाद किया है. भगवान् तो जब अग्निकी भांति सूक्ष्म और स्थूल सबको ही जला देते हैं, तब बलिष्ठ हस्तियोंको भी मार डालेंगे, यों या तो फिर उसकी प्रवृत्ति कैसे हुई? यदि यों कहा जावे तो कहते हैं कि अपने सेनापतियोंको नष्ट हुआ देखकर, दुष्ट क्रोधसे युक्त हो गया, जिससे उसका ज्ञान आच्छादित हो गया अर्थात् अज्ञानी बन गया. ऐसी दशा होनेसे ही प्रवृत्ति हुई, हस्तियोंका उत्कर्ष बताते हैं. एक तो इन हस्तियोंकी उत्पत्ति समुद्रसे हुई, जिससे कारणके हेतु उत्कृष्टता थी, दूसरा उस कारणसे उत्पन्न कार्य मदजल स्रवित हो रहा था. गज स्वभावसे पशुजीवोंमें उत्कृष्ट है और सर्वत्र संघ बनाकर घूमते हैं अतः तीन प्रकारसे उनका उत्कृष्ट निरूपण किया है. हाथियोंके बलोत्कर्षमें हेतु उनका मदजल स्रवण ही है, ऐरावत समुद्रसे उत्पन्न हुआ है. इसलिए इनका भी उत्पन्न करनेवाला समान होनेसे ऐरावतके सदृश ही इनका सामर्थ्य निरूपण किया गया है।।१४।।

माता, पिता और कालको देखा, जिसका वर्णन करने वास्ते 'दृष्ट्वा सभार्य' श्लोकमें भगवद् दर्शनका वर्णन करते हैं.

दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितं सूर्योपरिष्टात् सतडिद्घनं यथा।

कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं योधाश्च सर्वे युगपत्स्म विव्यधुः।।१५।।

गरुड पर विराजमान सत्यभामा सहित भगवानको देखा, मानो सूर्य पर बिजलीके साथ बादल चढ़ आए हैं, आते ही उस दैत्यने भगवान् पर शतघ्नी चलाई और योद्धा भी एकदम प्रहार करने लगे।।१५।।

युद्धकेलिए आनेकी शंका ही मिटा दी, यदि उसमें अर्थात् भगवत्स्वरूप में आसक्त हो जावे, तो कृतार्थ हो जावे. अलौकिक भगवान् लौकिक साधनोंसे जीता नही जाता, इसलिए अभूत उपमा देते हैं. अद्भुत होनेसे राग और द्वेषसे इष्ट तथा अनिष्टका सूचक होता है. जब सूर्यके ऊपर आधिदैविक मेघ आधिदैविक बिजलीके साथ होता है, तब आदित्य(सूर्य) ही इन्द्र बन जाता है, उसका आधिदैविकरूप वैसा है. यों वचनकी उपपत्ति(हेतुपूर्वक सिद्धि) है तो भी कृष्ण अब कालात्मा है, स्त्रियोंका तो हितकारी है, इसलिए उस(नरकासुर)को सद्बुद्धि नहीं आई, किन्तु विरुद्ध बुद्धि ही उत्पन्न हुई, उस विरुद्ध बुद्धिका कारण कहते हैं कि उसने शतघ्नी(सौ की मारे)को भगवान् पर फेंका, ऐसेको विशेषतासे रचा और योद्धोंने भी शतघ्नी तथा बाणोंसे साथ ही प्रहार किया, 'स्म' प्रसिद्धि अर्थमें है।।१५।।

तद्भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः।
निकृत्तबाहूरुशिरोंघ्रिविग्रहं चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम्।।१६।।

उसी क्षण भगवानने विचित्र पंखोंवाले तीक्ष्ण बाणोंसे उस भौमाकी सेनाके भुजा, उरु, सिर और चरण काट डाले, इस तरह हाथी-घोड़ोंको भी मार डाला।।१६।।

भगवानका क्लिष्टत्व सिद्ध करनेकेलिए प्रथम उसका अपराध निरूपण किया जाता है, जबतक वे युद्ध प्रारम्भ करें, उससे पहले अथवा उसी समयमें भगवानने अपने शस्त्रोंसे योद्धाओंको छेद डाला, पहले अस्त्र पास नहीं थे, अतः पीछे उन्होंने अस्त्र लगाए, यहां इस प्रकारका क्रम दोषकेलिए नहीं है. भौमासुरका वह सैन्य प्रसिद्ध है, आप भगवान् है, इसलिए पुत्रादि भाव उनको बाध नहींकर सकते हैं, इसलिए भगवानमें प्रवृत्ति की है. वह(मुर) भी माताका पुत्र है. इस वास्ते पिताके साथ भी युद्ध करना अयोग्य नहीं है. भगवान् गदाग्रज है. इसलिए भक्तके उत्पादनकेलिए भगवानको यों करना उचित ही है. भगवानने इनको लौकिक प्रकारसे मारा. यह जतानेकेलिए शरोंका वर्णन करते हैं. वे बाण विचित्र

पंखवाले हैं, पंखोंकी विचित्रतासे यह सूचित किया है कि इनके जानेका लक्ष्य दूर जाना ही है और जिनसे वायु उत्पन्न होती है अथवा जिनसे गति होती है. तीक्ष्ण कहनेका भावार्थ यह है कि कार्यको सिद्ध करनेवाले हैं, भगवानने योद्धोंके शरीरके चार मुख्य अंग बाहू, सिर, उर और चरण काट डाले. इन अंगोंके कार्य बताते है कि 'बाहुओं'से शस्त्रादि फेंकनेका कार्य करते, आनेमें 'उरु' काम देते, 'सिर' ज्ञानका, 'चरण' जानेका अतः इनके काट डालनेसे सर्व क्रिया लुप्त हो गई. जिस समय उसकी सेना युद्धकेलिए प्रवृत्त हुई, उसी क्षणमें प्रथम शस्त्र फेंकनेके बाद दूसरा न फेंक सके, इस वास्ते सब तरहके भागोंका निराकरण कर दिया. अब वाहनोंका निराकरण कहते हैं कि चतुरंग सेनामें मनुष्य, घोड़े, हस्ती तथा रथ होते हैं, जिनमें मनुष्योंका पहले नाश कहा, रथ अचेतन है, शेष बचे हुए घोड़े और हस्तियोंको भी नाश कर दिया।।१६।।

अनन्तर शस्त्रोंका काटना कहते हैं.

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह।
हरिस्तान्यच्छिनत् तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः।
उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् ।।१७।।

हे कुरूद्वह! शस्त्रधारी उन योद्धोंने जो-जो शस्त्र चलाए, उनको पहुंचनेसे पहले ही भगवानने तीखे बाणोंसे उन शस्त्रोंको काट डाला, उस समय भगवान् गरुड पर विराजमान थे और गरुड अपने पंखोंसे गजोंको मार रहा था।।१७।।

मारनेके जो साधनरूप शस्त्र थे, उनको लेकर उन योद्धोंने चलाया और ब्रह्मास्त्र आदि जो अस्त्र फेंकने जैसे थे, वे फेके. वे यदि टूटेंगे नहीं, तो आगे भी लोकोंका उपद्रव करेंगे, क्योंकि उपद्रवके साधन हैं इसलिए भगवानने उनको तोड़ डाला, यदि न तोड़ डालते, तो आपका 'हरि' दुःखहर्ता नाम निरर्थक हो जाता. इसलिए उस नामको सार्थक करनेकेलिए उनको नष्ट कर दिया, उनका नाश अलौकिक प्रकारसे नहीं किया, किन्तु लौकिककी भांति तीखे बाणोंसे किया और एक-एक शस्त्रधारियोंने जो अस्त्र-शस्त्र चलाए, सबको हस्तियोंमें जो अपनेलिए शोभा करनेवाले होंगे उनको नहीं मारा. यों कहनेकेलिए कहते हैं कि भगवान् वैसे गरुड़ पर विराजमान हुए थे, जिस गरुड़ने ऐसे हस्तियोंका नाश न कर शेष हाथी जो सेनारूप दैत्यांश थे, उनको मारा, साधारण हस्ती जो देवांश थे, उनकी रक्षा की, यों गजोंके दो भाग किए. जिस गरुड़ने भीतर प्रवेशकेलिए पक्षोंसे गजोंको मारा,

मानो हाथोंसे भीतर प्रवेशकेलिए यों किया, यह वैसे उनका निरूपण किया।।१७।।

अनन्तर गरुड़के मारे हुए हाथियोंका पुरमें प्रवेश 'गरुत्मता' श्लोकसे कहते हैं.

गरुत्मता हन्यमानास्तुण्ड पक्षनखैर्गजाः।
पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत।।१८।।

गरुड़ जब हाथियोंको चोंच, पांख और नखोंसे मारने लगा, तब वे दुःखी होकर नगरमें ही प्रविष्ट हो गए, भौमासुर लड़ने लगा।।१८।।

गरुड़ने चोंच, पांख व नखोंसे प्रहार किया. वे तामस, सात्विक और राजस थे, उनसे जो हस्ति पीड़ित हुए, वे पुरमें घुस गए, उनकी बुद्धि लड़ाईकेलिए नहीं हुई, जब वे लडनेसे मुख फेर नगरमें चले गए, तब नरकासुर स्वयं लड़ने लगा; क्योंकि उस समय 'युद्ध' प्रारम्भ हो गया था युद्धमें लड़ना राजाकेलिए आवश्यक है।।१८।।

मैं अकेला ही यह युद्ध लडूंगा, ऐसे उत्साहसे निश्चय किया था कि शस्त्रोंसे प्रहार करूंगा, यह वर्णन 'दृष्ट्वा' श्लोकमें करते हैं.

दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम्।
तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः।।१९।।

भीमासुरने यह देखकर कि उसकी सेना गरुड़से दुःखी हो भाग गई, जिस गरुड़से वज्र रुक गया था, उस गरुड़ पर शक्तिका प्रहार किया।।१९।।

गरुड़से पीड़ित और भागी हुई, अपनी सेना देखकर भौमासुर समझा कि यह केवल भयसे नहीं भागी है, किन्तु हारकर भागी है. यद्यपि वह भगवानसे ही लड़नेकेलिए आया था, दूसरेको तो गिनता भी नहीं है, तो भी वैसा होते हुए भी स्वयं उस गरुड़ पर शक्तिका प्रहार करने लगा. अल्प(छोटे) पक्षी पर अपना पराक्रम कैसे प्रयोजित किया या दिखाया? इसका उत्तर दिया है कि गरुड़ अल्प नहीं है; क्योंकि गरुड़से वज्र भी रोका गया था. गरुड़का यह चरित्र अमृतहरण समयमें प्रसिद्ध है, अतः महानमें सामर्थ्य बताना भी युक्ति युक्त है।।१९।।

यह माहात्म्य आगे भी उपयोगमें आएगा, भगवानका ये एक ही वाहन है, उसका उपद्रव हो, तब भगवानको कुछ शंका होगी? इसलिए उस शंकाका निवारण करना चाहिए, उसकी शक्तिने क्या किया? वह 'नाकम्पत' श्लोकमें कहते हैं.

नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः।
शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः।।२०।।

उस शक्तिके प्रहारसे गरुड़ जैसे हाथी पर माला गिरे तो वह थोड़ा भी हिलता नहीं है, वैसे कांपा नहीं. जब इस प्रकार भौमासुरका उद्यम निष्फल हुआ, तब भगवानको मारनेकेलिए त्रिशूल हाथमें लिया।।२०।।

उस शक्तिसे बेधे गए गरुड़का अल्प भी शरीरमें भेद अर्थात् कम्पन्न न हुवा, जैसे हस्तिको मालाका प्रहार हो तो कुछ भी उसको नहीं होता है, वैसे इसको भी कुछ तो नहीं हुआ, किन्तु जैसे अंकुश लगनेसे हस्ति जगता है और कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है, वैसे ही गरुड़ भी विशेष पराक्रमसे युक्त हुआ. इससे नरकासुर लज्जित हो, महादेवसे प्राप्त अमोघ त्रिशूलको अच्युत पर चलानेकेलिए विचार करने लगा; क्योंकि भौम माताका पुत्र है, भगवान् पर त्रिशूल चलानेका कारण कहते हैं कि गरुड़ पर जो शक्ति चलाई, उसका वह उद्यम निष्फल हुआ, इस कारणसे पुनः यह उद्यम करने लगा।।२०।।

भगवानको महादेवके त्रिशूलका माहात्म्य भी स्थापित करना था, यदि त्रिशूल भगवान् पर चलाते तो वह निष्फल जाता, जिससे त्रिशूलकी अमोघता नष्ट होनेसे उसका माहात्म्य भी न रहता, यह भगवानको अभीष्ट नहीं था, इसलिए भगवानने उसके द्वारा त्रिशूल चलानेसे पहले क्षणमें सुदर्शनसे उसका सिर काट डाला, जिसका वर्णन 'तद्विसर्गात्' श्लोकमें करते हैं.

तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः।
अपाहरद् गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना।।२१।।

उस त्रिशूलके चलानेसे पहले ही भगवानने हस्ती पर बैठे हुए नरकासुरका सिर चक्रकी तीक्ष्ण धारसे काट गिरा दिया।।२१।।

उसके त्रिशूल चलानेके पहले ही भगवानने प्रयत्नसे सुदर्शनकी तीक्ष्ण धारसे जो सिर काटा, उसके कटते ही उसके प्राण भी निकल गए. यदि यों न होता तो त्रिशूलके रहते हुए वह मारा नहीं जाता. यों कोई कहते है और दूसरे कहते हैं कि त्रिशूल महादेवका दिया हुआ नहीं है. किञ्च वह वास्तवमें हस्ती पर बैठा था, आचमन आदि कर्म नहीं किए, जिससे उस त्रिशूलमें महादेवजीका प्रवेश न हुआ, चक्रकी सामर्थ्यका निवारण करनेकेलिए कहा है कि 'क्षुरनेमिना' तीक्ष्णधारसे ही काट डाला अर्थात् चक्रसे नहीं काटा, किन्तु उसकी धारसे ही काट डाला।।२१।।

पश्चात् उसका सिर फिर जुड़ेगा नहीं, अतः उसका दूसरा विनियोग वर्णन 'सकुण्डलं' श्लोकमें करते हैं.

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत्।
हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे।।२२।।

कानोंमें कुण्डल, सिर पर सुन्दर मुकुटवाला, देदीप्यमान मस्तक पृथ्वी पर गिरा और वहां भी चमकता रहा. उस समय दैत्य हाहाकार करने लगे, ऋषिलोग साधु-साधु कहने लगे और देवाधिपति फूल बरसाते हुए स्तुति करने लगे।।२२।।

जैसे भूमिसे उत्पन्न सिर ही अविकारी होता है तथा चमकता रहता है, वैसे यह चमक रहा था, यों जतानेकेलिए कुण्डल तथा मुकुटका वर्णन है अर्थात् अच्छी तरह चमकता हुआ सिर गिर गया. कहनेका यही तात्पर्य है, इस कारणसे ही चमकने लगा, भूमि सिरका तिरस्कार करना नहीं चाहती है. इस कारणसे भूमिने उसे अच्छी तरहसे रखा, जिससे शोभा हुई. जैसे किसी माताको पुत्र गोदमें दिया जाय, तो वह माता उसे गोदमें अच्छी तरह बिठाती है, जैसे वह सुशोभित होवे, उसी प्रकार भूमिने भी किया. यह पृथ्वी अभिमानिनी देवता है, भगवानकी शक्ति 'इला' नहीं है, वह इला आधिदैविकी नरकासुरकी माता है, जिसका रूप अब सत्यभामा आधिदैविकी है. उसको अपने साथ ले जानेमें पांच प्रयोजन हैं, भगवान् जब शक्तिसहित होते हैं, तब पूर्ण होते हैं, बलभद्रके साथ शक्तिके बंटवारेके समय 'योन्यंश' पृथक् किया. माहात्म्य तो दिखाना ही चाहिए, उसके कहनेसे नरकासुर भी मारने योग्य है. 'सापत्न्य' भावको सहनेकेलिए, नहीं तो वह दूसरी स्त्रीका होना सहन नहींकर सकती, बलसे हरण करनेमें भगवानकी सामर्थ्य तो देखी है और पारिजातको लानेके समय भी सामर्थ्य देख ली है. इस प्रकार उसके मरनेसे भौमासुरकी प्रजाके लोक हाहाकार करने लगे. ऋषियोंने जाना अपना पुत्र आपने ही ले लिया और दूसरे ऋषि लोग साधु! साधु! कहने लगे, देव कहने लगे कि अच्छा हुआ, यों कहकर पुष्प वृष्टि करते हुए स्तुति करने लगे. स्तुति इसलिए की है कि नरकासुरको भी मुक्ति दी और यह नरकासुर पुत्र था, उसको भी मार डाला, भगवान् वैसे पराक्रमी हैं. दूसरे तो केवल अच्छा किया, यों कहकर स्तुति करने लगे. देवोंने पुष्प वृष्टि की, जिससे यह सूचित किया है कि इसका वध देवोंके हितार्थ किया है।।२२।।

जिसकेलिए इसका वध हुआ, वह कार्य उसके वधसे हुआ, जिसका वर्णन 'ततश्च' श्लोकमें करते हैं.

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत् प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम्।।२३।।

अनन्तर पृथ्वीने श्रीकृष्णके समीप आकर तपे हुए सुवर्णमें जड़ित रत्नोंसे प्रकाशित कुण्डल, वैजयन्तीमाला, वरुणका छत्र और महामणि ये सब अर्पण किए।।२३।।

पृथ्वी भगवानके पास आई, पासमें आने पर भी उसको भय न हुआ; क्योंकि जिनके पास आई, वह कृष्ण थे. अदितिके 'कुण्डल' सदा ही तपे हुए सुवर्णवाले तथा रत्नोंसे युक्त होनेसे चमक रहे हैं, ये दोनों प्रकृतिसे उत्पन्न हुए है, इसलिए दोनोंको कहा. वैजयन्तीमाला भगवानकी दी हुई थी, वह दे दी अथवा भगवानकी पूजाकेलिए वैजयन्तीमाला दी, वरुणको बताया हुआ अथवा समुद्रसे उत्पन्न इन्द्रका ही छत्र या दूसरा कोई भगवानकेलिए दिया. बादमें कौस्तुभके समान बड़ी मणि दी. 'अथो' पदका तात्पर्य बताते हैं कि ये सब पदार्थ प्रथम ही भगवानके थे, फिर भगवानको ही दिए. यह तो अतिरिक्त(दूसरे) हैं, जो पुत्रने इकट्ठे किए थे, वे दिए. वैजयन्तीके साथ कुण्डल भूमिमें स्थित थे, छत्र स्वर्गस्थ था, मणि पातालस्थ थी, ये तो नमूनेके तौरसे कहे हैं. वस्तुतः जो कुछ त्रिलोकीमें उत्कृष्ट था. वह सर्व निवेदित कर दिया. यह कहना खाली हाथपनका ही है; क्योंकि वास्तवमें सब भगवानका ही है, वह स्त्री, वह पुत्र यों. इस कारणसे पुत्रके साथ भेद नहीं है, इसलिए भगवानके वास्ते ही स्त्रियें संग्रह की है. राजाओंके रनवासमें रुकी हुई स्त्रियोंको छुड़ाकर उनसे विवाह करनेमें कोई दोष नहीं है।।२३।।

अब अपराधकी क्षमा याचनाकेलिए अलग प्रक्रम(उपक्रम–सिलसिले) से स्तोत्र(स्तुति) करती है.

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम्।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया।।२४।।

हे राजन्! पृथ्वी देवी भक्ति युक्त बुद्धिसे नम्र हो, हाथ जोड़कर उत्तम देवोंसे पूजित विश्वके ईशकी स्तुति करने लगी।।२४।।

जिसने वधका कार्य किया है, उसकी स्तुति कैसे की जा सकती है? इस

शंकाको मिटानेकेलिए कहती है कि आप घातक नहीं हैं, किन्तु विश्वके ईश है, पुत्रादि सम्बन्ध इसमें कोई प्रयोजक नहीं है, पृथ्वी न कहकर देवी पद देनेका भावार्थ यह है कि वह जानती है कि स्तुति किसकी और कैसे की जाती है? तो भी इस समय तो जो कार्य हुआ है वह लोकसे भी विरुद्ध हुआ है. इसलिए भी स्तुति कैसे की जाती है? जिसके उत्तरमें कहती है कि 'देववरार्चितम्' इस लोकके विरुद्ध कार्य करनेके अनन्तर भी उत्तम देवोंने आपका पूजन तथा स्तुतिका कार्य किया है, अतः आप स्तुति योग्य है. हाथ बांधकर स्तुति करने लगी, जिससे अपनी नम्रता एवं दीनताकी सूचना की है, यों मनसे दीनता नम्रता बताकर शरीरसे नम्रता दिखानेकेलिए 'प्रणता' पद दिया है, शरीरसे दण्डवत् प्रणाम किया. स्त्रीभावसे चिन्ता तथा भय सदैव रहता है, उनकी निवृत्तिकेलिए कहाकि दोनों ही नहीं है, क्योंकि चिन्ता और भय मनसे होता है, उस मनको भक्तिमें लगा लिया है, इसलिए भक्तिमें आसक्त हुई बुद्धिसे स्तुति करने लगी, भक्तिमें आसक्ति होनेसे रुकावटोंको भी तोड़कर मन भी भगवद्भक्तिमें यों दौड़ा जाता है, जैसे जल नीचेकी तरफ जाता है।।२४।।

षड्भिः स्तुत्वा प्रार्थयते पौत्रजीवितमुत्तमम्।
चतुर्भिर्नमनं प्रोक्तं सर्वभावप्रसिद्धये।।
माहात्म्यं च स्वरूपं च ततो द्वाभ्यामुदीरितम्।।का.१।।२४।।

छः श्लोकोंसे स्तुतिकर पौत्रका जीवन उत्तम हो तदर्थ प्रार्थना करती है, सर्वात्मभावकी सिद्धिकेलिए चार श्लोकोंसे नमस्कार कहा है, अनन्तर दो श्लोकोंसे माहात्म्य और स्वरूपका वर्णन किया है।।१।।

पहले उत्पन्न हुआ, दूसरा कोई होगा, यों न हो तो पुत्रको कैसे मारे? इस शंकाको मिटानेकेलिए लक्षण 'नमस्ते' श्लोकमें कहती है.

भूमिरुवाच

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते।।२५।।

पृथ्वीने कहा कि हे देवोंके स्वामी! हे शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले! हे परमात्मा! भक्तोंकी इच्छासे अवतार लेनेवाले प्रभु आपको नमस्कार है।।२५।।

आपको नमस्कार है. जब भूमि देवता है, तो देवताका दूसरे देवताको

नमन कैसे? इस शंकाके उत्तरमें कहती है कि आप देवोंके देव तो हैं, किन्तु उनको शिक्षा देनेवाले होनेसे उनके ईश भी है, अतः यह मारना नहीं है, पुत्रके मारनेमें भी अन्य प्रकार नहीं है, किन्तु शिक्षा ही है, ब्रह्मादि देवोंके भी जब ईश हैं, तो यहां अन्य कुछ कहना ही नहीं चाहिए अर्थात् कह नहीं सकते हैं, उसमें कारण देते हैं कि शंख, चक्र और गदा धारण करते हो अर्थात् 'पद्म' तीनोंका कार्य गदासे 'पर्वतोंको तोड़ डालना' इत्यादिसे कहा ही है. आज तक भी भगवानने पुरमें प्रवेश नहीं किया है. गरुड़ पर ही बैठे हुए चतुर्भुजरूपसे प्रकट हैं, यों इस प्रकार कहे जाते हैं, ऐसे चतुर्भुजरूपको मनुष्याकृति कैसे? जिसके उत्तरमें कहा है कि भक्तोंको जैसी इच्छा होती है, वैसा रूप धारण करते हो. रूप धारण करनेसे तो विकृति हो जायगी, फिर उसमें भी अन्य जैसा रूप धारण करनेसे तो जीवसे समानता हो गई, तो फिर उसको नमस्कार कैसे की गई है? इसके उत्तरमें कहती है कि आप परमात्मा हैं, इसलिए आप अन्यरूप धारण करनेसे विकृत नहीं होते है, जीव यदि अन्यरूप धारण करे, तो विकृत होता है, आप परमात्मा है, अतः विकृत नहीं होते हैं. भक्तके आधीन होनेसे भगवानको फिर नमस्कार करती है. 'नमोऽस्तुते' आपको नमस्कार है।।२५।।

कुन्तीने चार प्रकारसे भगवानकी स्तुति की, जिससे प्रभु प्रसन्न हुए, इसलिए भूमि भी 'नमः पंकजनाभाय' श्लोकमें नमन करती है.

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये।।२६।।

नाभिसे कमलवाले, कमलोंकी माला धारण करनेवाले, कमल सदृश नेत्रवाले, कमलसम चरणवाले आपको नमस्कार है।।२६।।

उसने ब्रह्माण्डमें भगवानका सर्वपन तथा सर्वोत्तमपन कहा. नाभिमें कमल कहनेसे नारायणत्व कहकर पुरुषरूप बताया. उससे ब्रह्माण्ड रूपत्व सिद्ध होता है, उस स्वरूपमें तीन प्रकारसे उत्कर्ष है. जैसेकि १.लक्ष्मीपति होनेसे, २.सर्वोसे उपास्य होनेसे और ३.सर्वसे सेव्य होनेसे, जो अच्छे प्रकारसे सेवनीय होता है, वह महान होता है, वह ही समस्त पुरुषार्थोंको सुख देता है. कमलोंकी मालासे यह बताया है कि आप लक्ष्मीसे आवृत्त है, उसके सिवाय देवत्व कहां है? इत्यादि वाक्योंसे उसका सर्व पुरुषार्थरूपत्व हे कमलनयन! कहकर बताया है कि आप दृष्टिसे ही सब ताप नाश करते हैं, तथा सर्वको वशकर लेते हैं, चरण,

कमल जैसे होनेसे, सर्वसे सुसेव्य है।।२६।।

इस प्रकार ब्रह्माण्डमें स्वरूप तथा उत्कर्षका निरूपणकर, तत्त्वोंमें भी वैसे ही हैं, जिसका निरूपण 'नमो भगवते तुभ्यं' श्लोकमें करती है.

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः।।२७।।

भगवान्, वासुदेव और विष्णु जो आप हैं, उनको मैं नमन करती हूं. पुरुषरूप, सबका आदि बीज, पूर्णज्ञान स्वरूप जो आप हैं, उनको मैं नमस्कार करती हूं।।२७।।

सब तत्त्वोंका मूलभूत स्वरूप भगवान् हैं उनके जो भगरूप हैं वे तत्त्व हैं, इसलिये शास्त्र दृष्टिसे स्तुति न कर प्रत्यक्ष स्तुति करते हुए कहती है, 'तुभ्यमिति' तुमको नमस्कार है. आप कैसे हैं? इसकेलिये कहती है कि आप तत्त्वोंके करण प्रयोजनरूप है, अर्थात् मोक्षदाता है, इस कथनसे, उपासनामार्ग द्वारा, सेव्यपनसे उत्कर्ष कहा, फिर विष्णु होनेसे कर्ममार्गमें भी सेव्य है, विष्णु पद यहां यज्ञवाचक है. यज्ञ, स्वतन्त्र है यह बतानेकेलिये यज्ञके बदले 'विष्णु' पद दिया है. तत्त्वोंमें पुरुषरूप महान् है इसलिए उसरूपको कहनेकेलिये 'पुरुषाय' भी कहकर नमन किया है. 'आदिबीजाय' 'पूर्णबोधाय' दो विशेषणों वा नामोंसे आपके क्रिया और ज्ञान शक्तिका उत्कर्ष बताया है, 'आदिबीजाय' कहनेसे यह बताया है कि वस्तुओंके पैदा करनेमें समर्थ बीजोंके आप पैदा करनेवाले हैं इससे आपमें पूर्ण क्रियाशक्ति है वह बता दिया है 'पूर्णबोधाय' पदसे यह सिद्ध किया है कि आप पूर्ण ज्ञानशक्ति युक्त हैं।।२७।।

इस प्रकार तत्त्वोंका उत्कर्ष कहकर आप पुरुषोतम है यह 'अजाय' श्लोकमें सिद्धकर नमन करती है.

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते।।२८।।

अजन्मा इस जगतको उत्पन्न करनेवाले, अनन्त शक्तिवाले, ब्रह्मरूप और परब्रह्म आदि तथा हमारे जैसोंके आत्मरूप भूतोंकी आत्मा एवं आत्मारूप जो आप हैं, वैसे तुमको नमस्कार करती है. परमात्मा पदसे आपका अन्तर्यामीपन बताया है, अन्तमें नमन कहनेसे यह नमन सर्वभूतोंको करती हूं, यह कहा है।।२८।।

'अजाय' अजन्मा कहनेसे यह दिखाया है कि आप सर्व विकाररहित हैं, परमतत्त्व हैं, जन्म न होनेसे ही उसमें होनेवाले भावोंका निराकरण किया है, जगतके कर्तापनसे वैसा होता है, यों जो मानते हैं उनके मतसे ही यहां 'जनयित्रे' पद दिया है स्वयं अजन्मा होकर दूसरोंको पैदा करते हैं इससे आपका सर्वोत्तमत्व भी सिद्ध होता है, यह आर्षज्ञानसे कहा जाता है, इसलिये इस विषयमें प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है, जो भी वस्तु है वह ब्रह्म ही है, यों ब्रह्मवादमें माना गया है, वहां भी इसलिये 'ब्रह्मणे' कहा है बड़े होनेसे, सर्वत्र व्यापक होनेसे, वह ब्रह्म है, यह ब्रह्मरूप वस्तु सब कुछकर सकनेमें शक्तिमती है, इसलिये 'अनन्त शक्तये' कहा है, अब आत्मवादसे कहती है कि ब्रह्मा आदि और अस्मदादिकी आत्मा भगवान् है जड़ जो भूत है उनकी आत्मा भी भगवान् ही है, इस प्रकार जीव तथा जड़की आत्मा भगवान् है यह प्रतिपादनकर, अब अन्तर्यामीपन सिद्ध करनेकेलिये कहती है 'परमात्मन्' परमात्मा भी आप है, इस प्रकार आपका पुरुषोत्तमत्व कहकर अन्तमें प्रणाम करती है, अन्तमें प्रणाम करनेका भावार्थ है कि आपके सर्व स्वरूपोंको प्रणाम करती हूं।।२८।।

'त्वं वै सिसृक्षूः' श्लोकसे माहात्म्य कहती है.

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्यपावृतः।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः।।२९।।

हे प्रभु! जब आपको जगतके रचना करनेकी इच्छा होती है, तब उत्कृष्ट रजोगुणको धारण करते हो. जब प्रलय करनेका विचार आता है, तब तमोगुण प्रकट करते हो और पालनकेलिए सतोगुणको ग्रहण करते हो, अतः काल प्रधानपुरुष आप ही हैं. इन गुणोंको स्वीकार करने पर भी उनका प्रभाव आप पर नहीं होता है; क्योंकि आप सबसे पर हैं।।२९।।

जगतकी रचना करनेकी इच्छा होते ही, उस रजोगुणको धारण करते हो, जो शीघ्र ही कार्य करने लगे, तथा प्रलयकेलिये वैसा ही उत्कट तमोगुणरूप धारण करते हो. एवं पालनकेलिये सतोगुणरूप धारण करते हो, किन्तु ये गुण आपको आच्छादित नहींकर सकते हैं, इस कार्यमें कोई भी रुकावट नहीं डाल सकता है, क्योंकि आप जगतके पति हैं, गुणोंके नियामक तीन है १.क्षोभ करानेवाला काल है २.स्वरूपभूत प्रकृति और ३.पुरुष, जो अधिष्ठाता है, ये तीन आप ही है आप केवल इतने ही नहीं हो किन्तु इनसे भी पर हो।।२९।।

इस प्रकार सबसे उत्तमपन कहकर 'अहं' श्लोकसे 'सर्वत्व' कहती है.

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा दश इन्द्रियाणि च।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः।।३०।।

मैं(पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, प्रकाश, इनकी मात्राएं(शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध), देवता, मन, इन्द्रियां, कर्त्ता, महत्तत्त्व ये सर्व चराचर जगत् आप अद्वितीयमें है, यह जो अन्यथाप्रतीति हो रही है, वह भ्रम है।।३०।।

तत्त्व और कार्य आप ही है इस लोकका यह ही अर्थ है, मैं(पृथ्वी) 'अहं' पदसे त्रिवृत्करणका जो पक्ष है, उससे अन्यत्वका बोध कराती है, मात्राएं दिग्वात आदि दश देवता तथा दश इन्द्रियां 'च'से बुद्धि प्राण आदि कहे हैं, कर्ता महत्व 'इति' शब्द प्रकार समाप्तिको कहता है, 'अखिल' शब्द 'चराचर'का अनुवाद है, अर्थात् चर और अचर कहनेसे सर्वपदार्थ मात्र आजाते हैं फिर 'अखिल' पदकी आवश्यकता नहीं थी तो भी दिया है, इसलिये आचार्यश्री कहते हैं कि यह अनुवाद मात्र है, 'भ्रम' पदका भावार्थ बताते हैं कि यह जो हमको प्रतीति हो रही है वह भ्रम ही है, वास्तवमें यह सर्व ब्रह्म है अतः कार्यपनसे भेद अवश्य है, इसलिये 'अखिल' पद दोनोंसे न्यून और अधिक दोषके परिहारकेलिये सम्बन्धित है जैसेकि भगवान् यह अखिल आप अद्वितीयमें स्थित है, तथा इस आपके जगद्रूपमें जो अन्यथाप्रतीत हो रही है वह 'अखिल' सम्पूर्ण भ्रान्ति है 'एकः सन् बहुधा विचचार(एक होते हुवे भी बहुत विचरण करते हैं)' इस श्रुतिसे भगवान् ही सर्वरूपसे विचरण करते हैं, इसलिये कहा है 'अद्वितीये त्वयि' यह सब आप जो अद्वितीय हैं उनमें स्थित हैं, अर्थात् यह सब आप ही है कार्यरूपसे भेद होने पर वह पदार्थ पृथक् दूसरा नहीं हो जाता है तत्त्वादि निरूपण करनेवाले, स्मार्त विचारकोंके भी हृदयमें भेद भासता है, यह सब भ्रम इस प्रकार परिगणना मात्र ही है, आपको ही जो बहुत प्रकार गिनते हैं वे गिनती करनेवालोंका परस्पर भेद मानते हैं, वास्तवमें भेद उसको कहा जाता है जहां अन्य वस्तु होवे, यहां तो आपके सिवाय अन्य वस्तु है ही नहीं, कारणरूप आप ही कार्य हुवे हो, कारण कार्य एक ही वस्तु है, इसमें जो भेद मानते हैं वे भ्रान्त हैं।।३०।।

इस प्रकार स्तुतिकर 'तस्यात्मजोऽयं' श्लोकसे प्रार्थना करती है.

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः।
तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम्।।३१।।

हे शरणागतोंके दुःखहर्ता! उसका यह पुत्र है, जिसने भयभीत हो आपकी शरण ली है, अतः आप इसकी पालना करें. सर्वपापनाशक अपना हस्तकमल इसके सिर पर धरें।।३१।।

स्तुति करनेसे सबके अपराध निवृत्त किये वे सब भूले हुवे थे. सबकुछ आप ही है यह उसका आत्मज है, यों कहनेका आशय है कि राज्य इसको दीजिये, आपके चरणकमलोंकी इसने शरण ली है. इसलिये इस पर स्नेहवर्षा कीजिये. भयभीत अर्थात् डर गया है इस पर दया कीजिये. यह सबकुछ ठीक है तो भी शत्रु है, उसको तो मारना ही चाहिये, इस शंकाकी निवृत्तिकेलिये कहती है कि जो आपके शरण आता है उसकी पीड़ाको आप मिटाते हैं यह भी आपके चरणोंमें आके पड़ा है अर्थात् आपकी शरण ली है. आपको अपने विरूद्ध अर्थात् अपना शत्रु नही समझता है, यों कहनेसे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस प्रतिज्ञानुसार, विचार करनेसे भी इस पर कृपा करनी चाहिये, इसलिये इसकी 'पालना करो' इस प्रकार प्रार्थना की है. मैं आपकी पत्नी हूं इसलिये यह आपका पौत्र है इस प्रकार धृष्टतासे फिर दूसरी तरह विनती करती है कि इसके शिर पर अपना हस्तकमल धरो, जिससे यह प्रतीति हो जाय कि आप इसके रक्षक हैं, रक्षा, वाणीसे कहनेसे भी होती है, फिर हस्तको क्यों शिर पर धरा जाय? इसके उत्तरमें कहती है कि यदि इसके कुछ पाप भी हो तो वे भी नष्ट हो जावें, इस कारणसे, कि आपका हस्तकमल तीन कालोंमें तीन प्रकारके जो पाप होते हैं उन सर्वपापोंका नाश करनेवाला है. अपना अधिकरण ही यों सम्पादन करता है, यद्यपि उसका पुत्र है, इसलिये उसके समान दुष्ट है अतः मारने योग्य ही था, तो भी पृथ्वीकी प्रार्थनासे उस समय नहीं मारा।।३१।।

सब कोई सबकी प्रार्थना करते हैं, तो भी जो उचित होता है, वह ही करते हैं, अणुमात्र भी दूसरी तरह नहीं करते हैं यह, 'इति भूम्या' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

इति भूम्यार्चितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया।
दत्वाऽभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत्।।३२।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि भूमिने भक्तिसे नम्रतापूर्वक इस प्रकार प्रार्थना की, तब भगवानने भगदत्तको अभय देकर सकल सम्पदासे समृद्ध भौमासुरके

घरमें प्रवेश किया।।३२।।

भूमिने भगवानकी पूजा, वाणीसे तथा अर्चनके द्रव्यसे साथमें ही की अथवा केवल वचनोंसे ही पूजा की, शेष तो जिनसे पूजा की वे तो उसके ही दिये हुवे हैं, भगवानने बुद्धि तो सबसे विशेष स्त्री जातिको ही दी है व पुरञ्जनके उपाख्यानमें प्रतिपादन किया हुवा है, वह भगवानकी दी हुई बुद्धि आदि सर्व जीवोंमें भिन्न-भिन्न है यदि बुद्धि एक सी होवे तो पृथक्-पृथक् फल कहनेवाले प्रमाण व्यर्थ हो जावें, अतः बुद्धिके दोष और गुणोंके अनुसार जैसा योग्य होता है वैसा ही करते हैं, इस प्रकार सचमें समानता हो जाती है, अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं आता है विशेष विशेष समयमें लीलाकेलिये बुद्धियोंका वैसा निर्माण होता है, अर्थात् बुद्धियां लीलाके अनुकूल बन जाती है इसलिये कहा है भगवानकी भी भक्तिसे नम्र हो कर पृथ्वीने स्तुति की, इसलिये अभयदान देकर पश्चात् भौमासुरके घरमें भीतर पधारे, पधारनेका कारण कि वह गृह सकल सिद्धियोंसे समृद्ध था, उस समय उसके प्राण ही उसके रक्षाके योग्य थे, इसलिये यों किया, यदि यों नहीं करते तो इतनी कन्याओंकी व्यर्थता हो जाती, उनका इकट्ठा किया हुआ सर्वपदार्थ ग्रहण करनेसे उसके चोरी किए हुए सर्व दोषोंकी निवृत्ती होती है।।३२।।

तो भी कन्याओंने स्वतः ही वरण किया यह 'तत्र' श्लोकसे कहते हैं.

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्त्राधिकायुतम्।
समाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः।।३३।।

वहां सोलह हजार पराक्रमकर लाई हुई राजाओंकी कन्याएं थीं, उनको भगवानने देखा।।३३।।

भगवान् उनको ले आये, क्योंकि राजाओंकी कन्या अपनी जातिके समान रूप और वीर्यको चाहती हैं, ये सोलह सहस्र कन्याएं षोडश कलाओंके सहस्र प्रकार हो, उनकी अधिष्ठात्री देवतारूपसे पृथ्वीमें प्रतिष्ठित थी. इसलिये भूमिसे उत्पन्न भौमासुरसे वे लाई गई थी, भगवानकी प्रेरणासे ऐसा उसको भ्रम था, तब ही वे सम्पन्न थीं, वे दो प्रकारकी थी यह जतानेकेलिये उनकी गणना पृथक्-पृथक् संख्यासे की है, जैसे दश सहस्र और छ सहस्र उसमें अधिक पदका आशय, छ हजार कन्याओंकी उत्तमत्ता दीखानेका है, वे अप्सरायें थीं देवतारूप होनेसे क्रीडार्थ उनका जन्म हुवा है, उन्होंने पहले अष्टावक्रकी स्तुति की थी, फिर

उसका उपहास किया, जिससे वे दोष भाववाली हो गई. इसलिये ही आदि और अन्तमें ऋषिके कोपसे दुःखकी प्राप्ति हुई, ऋषिके प्रसादसे अर्थात् वर मिलनेसे उनकी बुद्धि भगवानके वरणकी हुई, भौमासुर पराक्रमकर इन कन्याओंको राजाओंसे ले आया था अर्थात् बलसे ले आाया था 'सर्वान् बल कृतानर्थान् न कृतान् मनुरब्रवीत्' इस मनुकी उक्तिको जतानेकेलिये इस प्रकार किया, भगवान् उनके दुःखको हरणकर्ता हैं, इसलिये इस प्रकारसे उनको देखा।।३३।।

'तं प्रविष्ट' श्लोकसे वरण करते हैं.

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवर्यं विमोहिताः।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम्।।३४।।

उस नर श्रेष्ठको प्रविष्ट हुआ देखकर ही वे स्त्रियां मोहित हो गई, देवसे प्राप्त इच्छित पतिका मनसे वरणकर लिया।।३४।।

अच्छे प्रकार अपने समीप आते हुवेको स्त्रियोंने देखा, स्त्रियोंको तो अवश्य पतिका वरण करना चाहिये, किन्तु भगवान् पुरुषोत्तमको कैसे वरा? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहा है कि वे वरोंमें श्रेष्ठ हैं, स्त्रियोंको पुरुषाकृति ही प्रिय है, इसलिये भगवान् अब पुरुषाकृतियोंमें भी उत्तम नररूपमें थे अतः उनको देख मोहित हो गई जिससे उनमें निरुद्ध हो गई. अतः भयसे नहीं किन्तु प्रेमपूर्वक कायासे वरणकर लिया, पहलेसे ही मनमें यह ही भावना थी अब वह इच्छित प्राप्त हो गया है अतः पतिपनसे वरण किया, जैसे पिता कन्याके पास वरणकेलिये 'वर'को ले जाता है, वैसे अब देवने वरको पास भेजा है, इसलिये अवसर प्राप्त हुआ है इनका वरण करना आवश्यक है यों देव ज्ञापन कराती है इससे वरण करना योग्य ही है।।३४।।

'भूयात् पति' श्लोकमें उनका मनोरथ कहते हैं.

भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम्।
इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः।।३५।।

ये हमारे पति होवें, जिसका विधाता अनुमोदन करें. इस प्रकार सब स्त्रियोंने प्रेमसे श्रीकृष्णचन्द्रमें पृथक्-पृथक् मन लगाया।।३५।।

'मह्या' एकवचन कहनेका आशय है कि हरएकने अपना हृदय भगवानमें लगाया. ब्रह्माण्डमें संवत्सरात्मक प्रजापतिको अधिकार दिया गया है, इसलिये उसकी स्वीकृतिके सिवाय, पिताकी आज्ञा न होनेके समान वरण नहीं हो सकता

है, इसलिये उसकी आज्ञा प्राप्तिकेलिये प्रार्थना करती है कि विधाता इस वरणका अनुमोदन करे. सब स्त्रियोंका एक ही भाव है वह तो भिन्न है, नहीं कि हरएकमें होनेवाला है, 'कृष्ण' नामसे बताया कि उन सबका प्यारा है भावसे तथा आकांक्षासे यह ही पति हो, अथवा श्रद्धासे या इसके आधारभूत भावसे यही पति हो, इस प्रकार अपना मन हरएकने भगवानमें धरा अर्थात् स्थिर किया।।३५।।

इससे विशेष अपने शरीरको भगवानके भावका अधिष्ठान तथा भगवदीय करनेकी शक्ति उनमें नहीं थी, इसलिये वह कार्य भगवान् करने लगे यह वर्णन 'ताः प्राहिणोत्' श्लोकमें करते हैं.

ताः प्राहिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बरैः।
नरयानैर्महाकोशं रथाश्वद्रविणं महत्।।३६।।

भगवानने उन सबको स्वच्छ सुन्दर वस्त्र पहनाकर, पालकीमें बैठाकर द्वारकापुरीको भेजा और भारी खजाने, रथ, घोड़े, बहुत द्रव्य भी भेजा।।३६।।

'द्वारका' उनकी अभिलाषाको पूर्ण करनेवाला स्थान है इसलिये वहां भेजा. वह स्थान भगवत्प्राप्तिका द्वार है, सुन्दर एवं स्वच्छ वस्त्र पहनाकर, पालकीमें बिठाकर भेजा, केवल ये स्त्रीरत्न रवाने नहीं किये, किन्तु अन्य रत्न भी भेजे जैसेकि बड़ा रत्नोंका खजाना जिसमें रथ, अश्व और धन–सोना आदि था. इस प्रकार तीन प्रकारका उत्तम धन भी रवाना किया इनके भेज देनेका कारण कहते है कि यह 'महत्' यहां बहुत था अल्पके यहां बहुत द्रव्य होता है, उसका अनिष्ट करता है अतः उसका थोड़ा अनिष्ट होवे, इसलिये भेज दिया।।३६।।

विशेषमें गजोंको अपनेलिये ही भेजा यह वर्णन 'ऐरावत कुलेभांश्च' श्लोकमें करते हैं.

ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः।
पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः।।३७।।

ऐरावत कुलके चार–चार दान्तोंवाले, वेगवाले तथा पाण्डु(श्वेत पीला) रंगवाले चौसठ हाथी भी केशवने भेजे।।३७।।

जिस कुलमें ऐरावत हस्ती उत्पन्न हुआ है, उसमें ये भी उत्पन्न हुवे हैं उनकी दूसरोंसे विलक्षणता दिखाते हैं, दूसरोंके रूपोंसे इनमें यह विलक्षणता है कि इनके चार दान्त है, तेजस्वी हैं अर्थात् तेज चलनेवाले हैं इसमें स्वभावका वैलक्षण्य बताया हैं. 'च' शब्दसे यह प्रकट किया है कि जो घोड़े भेजे हैं वे भी

'उच्चैःश्रवा' घोड़ोंके कुलमें उत्पन्न हुवे हैं और अन्य पाण्डु रंगवालोंको, पाण्डु रंग कहनेका कारण यह है कि तेज दौड़ना और चार दान्त, मृगजातिमें भी होता है, इसलिये उनसे इनकी भिन्नता दिखानेकेलिये 'पांण्डुर' कहा हैं, पाण्डु रंगवालोंसे दूसरे श्यामवर्णवाले भी तेज चलनेवाले हैं उनको भी साथमें कहा है. अतः 'पाण्डुर' कहकर इनसे भेद बताया है, वहां दन्तादिमें भी विलक्षणता समझ लेनी, चौंसठ संख्यासे उनका कलारूपत्त्व सूचित किया है, इतनी सम्पदा महादेवजीके वरसे इसको प्राप्त हुई है वह सम्पदा ले जाने पर कदाचित् महादेव अप्रसन्न हो जावे? इस शंकाके समाधानकेलिये 'केशव' नाम दिया है जिसका भावार्थ है कि श्रीकृष्ण, महादेव तथा ब्रह्माके भी पूज्य है, अतः महादेव रुष्ट न होकर प्रसन्न ही होंगे कि मेरी दी हुई वस्तु मेरे स्वामीने अंगीकार की है।।३७।।

वहांका कार्य पूर्णकर, जिसकेलिये आये थे इन्द्रकी प्रेरणासे वह कार्य करने लगे जिसका वर्णन 'गत्वा' श्लोकमें कहती हैं.

गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्वादित्यै च कुण्डले।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः।।३८।।

सत्यभामाको साथ ले आप इन्द्रभवनमें पधारे. अदितिको कुण्डल दिए, वहां इन्द्र और इन्द्राणीने सत्यभामा सहित भगवानकी पूजा की।।३८।।

सुरेन्द्रभवनका तात्पर्य है, 'स्वर्गस्थान' वहां ही स्थित अदितिको कुण्डल दिये, अदितिका भोगरूप वहां है क्रियारूप अदिति तो अंशसे देवकी हुई है. 'च' शब्द देनेका आशय यह है कि इन्द्रको भी छत्र आदि दिये, अनन्तर इन्द्रने आपकी पूजा की. 'त्रिदशेन्द्र' पदका भाव स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि जरा-मृत्यु आदिसे रहित देव हैं उनको भी जो परमैश्वर्य दान दे सकता है उस इन्द्रने भगवानको अपना स्वामी मानकर उनका पूजन किया, इस प्रकारकी पूजा होनेसे भगवानने सत्यभामाको अपना उत्कर्ष दिखाया, भगवान् भार्या सहित पधारे थे इसलिये पत्नि सहित ही पूजित हुवे, यदि इन्द्र अकेलेकी पूजा करते तो लोकमें विरुद्ध जैसा दीखनेमें आता और पूजामें सत्यभामाका प्रवेश न होता. 'च' पदसे देव तथा देवोंकी स्त्रियोंने भी पूजा की, भगवान् तो सर्वके ईश्वर हैं इस कारणसे इन्द्रादिकोंसे पूजे जा सकते हैं सत्यभामा कैसे पूजी गई? इस शंकाके निवारणकेलिये कहते हैं कि 'सप्रियः' भगवान् प्रिया सत्याभामाके साथ पधारे थे, सत्यभामा भगवानकी प्रिया है, इसलिये वह भी पूजी गई, यदि इसकी पूजा न

होती तो भगवान् प्रसन्न न होते।।३८।।

पश्चात् स्त्रियोंकी गोष्ठीमें इन्द्राणीके साथ वार्ता होने पर सत्यभामाने जब पारिजात पुष्पकी आकांक्षा दीखाई तब इन्द्राणीने मनुष्य जानकर आकांक्षा पूर्तिसे मना किया, उस बहिर्मुखोंके इन वचनोंको वह न सह सकी, अतः भगवानकी प्रार्थना की जिससे ही भगवान् 'पारिजात वृक्ष' लाये जिसका वर्णन 'नोदितो' श्लोकमें करते हैं.

नोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति।

आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान्निर्जित्योपानयत्पुरम्।।३९।।

सत्यभामाके कहनेसे पारिजात वृक्षको उखाड़कर गरुड़ पर धर, इन्द्रादि देवोंको जीतकर उसको द्वारकापुरी ले आए।।३९।।

सत्यभामाकी प्रार्थनाके अनन्तर भगवान् भार्यासहित गरुड़ पर विराजमान हो, पारिजात वृक्षके समीप गये, उसको उखाड़कर गरुड़ पर धर लिया, क्योंकि जैसे नरकासुरके घरमें इतनी समृद्धि होना उचित न समझा वैसे ही यहां इन्द्रभवनमें पारिजातका होना योग्य न जाना इसलिये उखाड़ ले आनेकेलिये गरुड़ पर धरा, भगवानके विराजते हुए यह सर्वोत्कृष्ट वृक्ष वहां रहे, यह अयोग्य जाना, अतः सोमकी भांति पृथ्वी पर इसको भी लाए. यह कार्य इन्द्र आदि देवोंको पसंद नहीं आया, वास्तवमें तो इन्द्रादि भगवानके सेवक हैं उनको लीलाके अनुसार ही स्वामीका कार्य करना चाहिये था, अर्थात् स्वामीके आने पर उनकी इच्छानुकूल अपने पास जो सुन्दर वस्तु हो वह उनको भेंट करनी चाहिये, इस सत्य सिद्धान्तको न जान इससे विपरीत विचार करने लगे कि दी हुई वस्तु फिर ले कैसे जाते हैं, यह हमारी है, यों निश्चयकर लड़नेकेलिये आये, तब इन्द्रसहित सब देवताओंको जीतकर इस रुकावटको नष्टकर निर्विघ्न द्वारका ले आये, बीचमें कहीं छोड़ा नहीं, यदि देव लड़ाई न कर प्रार्थना करते तो कदाचित् लौटा भी देते. यह भाषा मतान्तर भाषा है यों आगे ही कहा है।।३९।।

पत्नीके कहनेसे उसकेलिये ही लाये थे अतः सत्यभामाके गृहमें ही स्थापित किया.

स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः।

अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धासवलम्पटाः।।४०।।

सत्यभामाके गृह और बगीचेकी शोभा बढ़ानेकेलिए मध्यमें स्थापित

किया, उसकी सुगन्धके मदके लोभी भौंरे स्वर्गसे यहां तक पीछे-पीछे चले आये।।४०।।

पारिजातके समीप होनेसे गृह और उद्यान दोनोंकी शोभा बढ़ती है अतः गृह और उद्यानके बीचमें स्थापित किया. उस पारिजात वृक्षका सर्व वक्षोंसे उत्कर्ष बताते हैं कि भ्रमर स्वर्गको भी त्यागकर पीछे-पीछे चले आये, क्योंकि इसका रस और गन्ध दोनों मादक है, उसमें ये आसक्त हैं, जिससे विवेक होने पर भी छोड़नेमें समर्थ नहीं थे, इसलिये पृथ्वी पर आ गये और वे नामसे भी ये भ्रम और मरणयुक्त हैं, स्वर्गमें तो इन दोनोंका अभाव है, तो भी यहां आये, क्योंकि पारिजातके रस तथा गन्धमें जो मादक है वह अन्यत्र नहीं हैं यों विषयकी उत्कर्षता देख स्वर्गको भी त्याग दिया इस प्रकार विषयका उत्कर्ष कहा।।४०।।

इस मतसे भी भगवानका किया हुवा ही उचित है, न कि इन्द्रका इसलिये इन्द्रके कार्यकी 'ययाच' श्लोकमें निन्दा करते हैं.

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम्।।४१।।

इन्द्रने प्रथम अपने मुकुटके अग्र भागसे चरणोंका स्पर्श करते हुए प्रणामकर अपनी कार्य सिद्धिकेलिए भगवानसे प्रार्थना की. कार्यकी सिद्धि हो जानेके अनन्तर भगवानके साथ विरोध करने लगा, अहो! देवताओंके अज्ञानको देखो, जिस अज्ञानसे कृतघ्नी हो रहे हैं, ऐसे समृद्धिपनको धिक्कार है।।४१।।

जिस इन्द्रने भगवानसे अर्थका साधन मांगा, वही इन्द्र बादमें धैर्य सिद्ध हो जाने पर अर्थके सिद्ध करनेवालेसे ही लड़ता है. आपदा आने पर मान्यसे अर्थात् बड़ेसे नमस्कारकर मांगना चाहिये? इस पर कहते हैं कि इन्द्रने भी इस प्रकार याचना की, जैसे मुकुटके अग्रभागोंसे चरणस्पर्शकर प्रणाम करते हुए, अपना अपकर्ष बता याचना की थी, अर्थात् यों करनेसे यह बता दिया कि मैं नरकासुरके मारनेमें असमर्थ हूं, भगवान् समर्थ है अतः प्रार्थना की है. भगवानकी समर्थता प्रकट दिखानेकेलिये ही 'अच्युत' नाम दिया है.

नरकासुरका वध ही अर्थका साधन है, इसलिये नरकासुरके वधकी प्रार्थना की, भगवानके सिवाय अन्य यदि समर्थ होवे तो भी दूसरेका कार्य न करे, किन्तु भगवान् महापुरुष हैं, इसलिये शरणागतकी प्रार्थना स्वीकारकर उसका कार्य पूर्ण करते हैं, भगवानके इस महत्वको जानकर भी तथा पराक्रम भी देखकर

स्वयं भी महान् है, तो भी भगवानसे लड़ा. कारणसे विरुद्ध कार्य कैसे हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अहो[१]'के कारण हुआ इर्ष्याके कारण हुआ तो भी उसकी उपपत्ति[२] बतानी चाहिये ज्ञान जिनमें मुख्य है ऐसे सात्विकोंमें केवल तमोरूप अज्ञान होता है, धनकी समृद्धिका अभिमान ही कारण है, जिससे इन्द्रादिकोंके ऐसे विरूद्ध विचार हो गये, इसलिये ऐसी समृद्धिको ही धिक्कार है, लक्ष्मीकी सम्पदा ही अज्ञानका न रूकनेवाला मूलकारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है, वहां सुरत्व[३] आदि बाधक हैं।।४१।।

१.असूया अर्थात् अज्ञानसे ईर्ष्या होनेसे. २.हेतुपूर्वक कारण.

३.तत्त्वादिकं बाधकं पाठ माना जाय तो तत्त्वादिक बाधक हैं, यों अर्थ होगा.

भगवानने कामावेश प्रकट करनेसे शौर्यका आवेश त्याग दिया, अनन्तरूप हैं, अतः प्रत्येककी कामनाके पूरकरूप धारणकर उनमें विवाहके रति समयकी क्रीड़ा सम्पादित करने लगे इसका तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं.

अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः।।४२।।

अव्यय भगवानने जितनी स्त्रियां थीं, उतने ही रूप धारणकर, सब स्त्रियोंसे पृथक्-पृथक् गृहोंमें एक ही समय शास्त्रविधिके अनुसार विवाह किया।।४२।।

सब स्त्रियोंकी कामना समान थी अतः समान फल देनेकेलिये, सबको अनेक गृहोंमें पृथक्-पृथक् स्थापनकर एक ही मूहूर्तमें शास्त्रविधिके अनुसार सबका पाणिग्रहण किया, एकने एक ही मुहूर्तमें पाणिग्रहण कैसे किया होगा? क्या दृष्टि भ्रम हुवा, जिससे यों समझा, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि दृष्टि भ्रम नहीं हुआ, किन्तु जितनी स्त्रियां थीं, आपने उतने ही रूप धारण किये थे. इतने रूप कैसे धारण किये होंगे? इस शंकाका निवारण करते हैं कि 'भगवान्' हैं जिससे आपमें सर्व प्रकारका सामर्थ्य हैं. अनेकरूप धारण करनेसे तो आप विकारी हुवे होंगे, इस भ्रमको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'अव्यय' होनेसे आपमें कुछ विकार नहीं होता है।।४२।।

विवाहका वर्णन कर 'गृहेषु' श्लोकमें रमण कहते हैं.

गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृत् निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो यथेतरो गार्ह(क)मेधिकांश्चरन्।।४३।।

इन स्त्रियोंके गृहके समान वा अधिक उत्तम गृह किसीके भी नहीं है, उनके ऐसे घरोंमें आप सदा विराज रहे थे, अपने स्वरूपानन्दसे पूर्ण होते हुए भी विवाह करनेके अनन्तर उनमें नित्य रमण करते थे. वह रमण ऐसे करते थे, जो कोई भी उसमें किसी प्रकारका तर्क न कर सके. इस प्रकार गृहस्थके श्रोत–स्मार्त धर्मपालन करते हुए उनका मनोरथ भी इस प्रकार सिद्ध करते थे, जैसे उसमें केवल प्राकृतपन न आ जावे।।४३।।

उनके घरोंमें आप नित्य विराजने लगे, उनसे जो विवाह किया, वह प्रमाण मार्गीय कामके अनुसार नहीं किया, किन्तु प्रमेयस्थ कामानुसारी किया. वह काम पुष्ट एवं निरन्तर रहनेसे नित्य रमणात्मक होता है, अतः विवाहके समयसे लेकर जबतक स्थिति, तबतक उनमें नित्यरमण करने लगे. विधिके पालनकेलिए दस पुत्र उत्पन्न किए, वह यहां नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उसमें कामकी प्रधानता है. उत्पादन(पुत्रोंको पैदा करने)में काम क्षीण होता है, निरन्तर रमण करनेमें बहुत दूषण होता है, दूसरे कार्य करनेमें रुकावट, मनुष्योंको सन्देह होता है, परस्पर इनकी एक दूसरेसे गोष्ठी करनेमें सन्देह इत्यादि दूषण पैदा होते हैं. जिनका उत्तर देते हैं कि 'अतर्क्यकृत' भगवान् जो कुछकर रहे हैं, वह इस प्रकार करते हैं जैसे उसमें किसीसे कोई भी तर्क उत्पन्न न हो सके, लोक प्रतीतिके ही विरोधमें दूसरी भांतिकर देते हैं, भगवानके बहुत रूप हैं, अतः किसी रूपसे बाहर भी पधार जाते हैं, जिससे किसी कार्यमें रुकावट भी नहीं पड़ती है, किन्तु यहां प्रभु विशेष कार्य नहीं करते हैं, अतः जैसे शाल्वादिकोंमें रहते हुए भी युद्ध नहीं किया है. कामकेलिए ही उनके घरोंमें विराज रहे थे, अतः कामकी सम्पत्तिकेलिए गृहोंका वर्णन करते हैं. स्वर्गादिमें भी रानियोंके गृहके समान या अधिक उत्तम कोई घर कहीं भी नहीं है, इसलिए आप यहां स्थिर होकर रहे थे, यदि व्यग्रता वा अस्थिरता होवे तो जो काम निरन्तर रहता है, उसमें बाधा हो जाय. इस प्रकार सब तरहकी उपपत्ति होने पर उनमें रमण करने लगे. भगवानकी तो इन्द्रियां नहीं है, फिर रमण कैसे करते हैं? प्रभु ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मीमें ही रमण करते हैं, न कि दूसरे स्थान पर वा दूसरेसे, तब यहां रमण कैसे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'रमाभिः' जितने भगवानके रूप हैं, उतनी ही ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मियोंको प्रकट करते हैं. यहां उन लक्ष्मियोंके उतने रूपोंका इन स्त्रियोंमें आवेशकर, पश्चात् उनसे रमण करते हैं. इस प्रकार करनेका कारण क्या है?

निजकामसे पूर्ण है, सेनाके आने पर काम भी प्रकट होता है, यह काम जीवोंके कामके समान नहीं है. यह बतानेकेलिए 'निज' पद दिया है, यदि यों है तो उन स्त्रियोंका संकल्प(मनोरथ) तो सिद्ध न हुआ होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं 'यथेतरः' जैसे दूसरे करते हैं, वैसे ही किया किन्तु उसमें केवल प्राकृतत्त्व नहीं है, इसलिए कहते हैं कि गृहस्थके श्रौत तथा स्मार्त धर्मोंको भी करते थे।।४३।।

उनकी मान एवं सम्पत्तिका वर्णन 'इत्थं' श्लोकमें करते हैं.

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाऽविरतमेधितयानुराग हासावलोक नवसंगमजल्पलज्जाः।।४४।।

ब्रह्मादिक भी जिनकी पदवीको नहीं जानते हैं. वे स्त्रियां इस प्रकार लक्ष्मीके पतिको अपना पति बनाकर प्रसन्नतासे बढ़ी हुई प्रीतिपूर्वक अनुराग हास्य देखना, नवीन संगम जिससे परस्पर अनेक प्रकारकी कथाओंसे लज्जित होने लगी।।४४।।

अथवा दो श्लोकोंसे भगवानका चरित्र कहा, वैसा करनेके पश्चात् उन्होंने भी एक श्लोक कामरससे कहा और एक भक्तिसे कहा. इस प्रकार इन्होंने भी दो किए, 'इत्थमिति' यों इस प्रकार भगवान् रमाके सिवाय अन्य किसीके पति नहीं हैं. उनके दास जो जीव हैं, वे दूसरोंके पति हैं, रमाके पतिको आप प्राप्तकर निरन्तर बढ़ते हुए हर्षसे उनको भजने लगी, जब भगवानने ग्रहण की, तब वे बन्दी(कैदी अवस्था) थी. बन्दीकी अवस्थामें ग्रहण इनके उपकारका कारण हो गया निरन्तर भगवानकी सेवा करने लगी. उनकी सेवा करनेमें क्या आश्चर्य है? स्त्रियां ही पतिकी सेवा करती हैं. यदि यों कहो तो कहते हैं कि जिनकी पदवीको ब्रह्मादि भी नहीं पा सकते हैं, वे तो भगवानकी प्राप्तिका मार्ग ही नहीं जानते हैं तो सेवा कहांसे करेंगे? प्रभुका अभिप्राय जानकर ही सेवा करनी चाहिए. वैसी सेवा उनको पसन्द होवे, वैसी करनी चाहिए, भगवानका अभिप्राय जानना तो दुर्लभ है. वह भी जानकर सेवा करने लगी, जिससे अलौकिकमें जाननेमें आता है, वह सेवा जैसे नौकर विधिसे सेवा करते हैं, वैसी नहीं, किन्तु प्रसन्नतापूर्वक प्रेमसे करती थी. उत्सुकतासे मोदकी प्रवृत्तिको निवारण करता है, निरन्तर बढ़नेसे यों भगवानमें उनके अनुराग आदि छः भाव है, वे कहते हैं. यदि वे छः भाव न होवे तो भक्तिरस ही हो जाय, कामरस न होवे. प्रथम तो चित्तमें प्रभु राग, पश्चात् हाससे अपना भाव प्रकट करना, बादमें दृष्टिसे संग, अनन्तर नित्य नूतन संगम, नित्य

नूतन संगम कैसे होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् नित्य नवीन है, क्योंकि रसरूप है. इस क्षण-क्षणमें नवीन होता है, उसके बाद अनेक प्रकारकी रसमय कथाएं. उनसे लज्जाका उत्पन्न होना, यह लज्जा कुल वधूत्वका भाव प्रकट करती है अर्थात् ये बड़े कुलकी स्त्रियां है, नहीं तो प्रकट रस रसाभास हो जावे 'जात लज्जाः' यह पाठ सुगम विचारणीय है।।४४।।

कामकृत कहकर 'प्रत्युद्गम' श्लोकमें भक्तिकृत कहते हैं.

प्रत्युद्गमासन वरार्हण पादशौच ताम्बूल विश्रमण वीजन गन्धमाल्यैः ।
केशप्रसार शयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्।।४५।।

यद्यपि प्रत्येकके पास सैकड़ों दासियां थीं, तो भी सामने जाना, बीड़ा देना, पांव चांपना(दबाना), पंखा करना, चन्दन और पुष्प अर्पण करना, केश सुलझाना, सेज संवारना, बादमें स्नान कराना एवं भोजन कराना; ऐसे-ऐसे उपचारोंसे वे स्त्रियां दास्यभाव प्रकट करती थीं।।४५।।

दूरसे भगवानको पधारते हुए देख जिस किसी अवस्थामें होते हुए भी शीघ्र सामने लानेकेलिए जाती थी, पश्चात् भगवानको आसन देती थी, बादमें जैसी आज्ञा करते थे, वैसा वरके योग्य पूजन करती थी. जैसे विवाहके समय मधुपर्क, पाणिग्रहण आदि, अनन्तर पादोंको प्रक्षालित करना, ताम्बूल देना, चरण चांपना, पंखा करना, चन्दन और पुष्प अर्पण करना, उसके बाद अपनी इच्छासे बैठे हुएके पुष्पादिके ग्रथनकेलिए केशोंको सुलझाना, बादमें शयन, उससे कामकी तृप्ति हो जाने पर स्नान, स्नानके पश्चात् भक्ष्य भोज्यादिका देना, पति स्त्रीगृहमें कामतृप्तिकेलिए ही जाता है न कि भोजनकेलिए जाता है, अतः कामकी पूर्तिके बाद ही भोजन आदि दिए, यह योग्य ही है, नहीं तो दोनोंमें रस नहीं होता. इस तरह बारह प्रकारके उपचार नित्य किए जाते थे, बारह क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मनकी बारह वृत्तियां उन सबकी पूर्ति करनेकेलिए, यों करनेसे उनको कष्ट हुआ होगा, जिससे रस उत्पन्न न हुआ होगा. इसको निवृत्तिकेलिए कहते हैं कि उनके पास जो सैकड़ों दासियां थीं, उनसे थकावट दूर करा लेती थी. बादमें भगवानकी सेवा(चाकरी) करती थीं. इनकी इस प्रकारकी सेवासे भगवान् तो क्लिष्ट हो गए होंगे, यों सापेक्ष सेवा कोई कहे तो उसके निवारणकेलिए कहते हैं कि भगवान् विभु हैं अर्थात् सर्वसमर्थ होनेसे उनको क्लेश नहीं होता है इस प्रकार विवाहसे लेकर सेवाओं तक जो क्रियाएं हुई, उनका

निरूपण किया. मान और अपनोदन आदि कहने चाहिए. वह आगेके अध्यायमें रुक्मिणीजीको कहनेसे सबका उसमें समावेश हो जाएगा, जब ही भगवान् जिस अंशसे तिरोहितसे होंगे, वहां भगवानके मनानेसे 'मान' उत्पन्न होता है, यह स्थिति है।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (उत्तरार्ध) अध्याय ५६ की श्रीवल्लभाचायचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाके राजस फल अवान्तर प्रकरणके तृतीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ५७

श्रीकृष्ण रुक्मिणी संवाद

वाचिकस्तु तिरोभावो रुक्मिण्यामुच्यते स्फुटः।
एकादशे निरोधार्थम् अन्यथा लौकिकं भवेत्।।का.१।।

रुक्मिणीसे जो भगवानने अपना तिरोधान किया, वह केवल वाचिक तिरोधान किया अर्थात् वाणीसे ही कहा, कायिक तिरोधान नहीं किया. कायासे तो वहां ही विराजमान थे, यह वाचिक तिरोधान जो उत्तरार्धके ११वें अध्यायमें किया है, वह निरोधकेलिए किया है, नहीं तो वह लौकिक हो जाय।।१।।

सर्वथा कृतसेवायाः परीक्षापि निरूप्यते।
यथा प्राणे शरीरस्य स्थितिस्तद्वद्यथा भवेत्।।का.२।।

यों वाचिक तिरोधानसे, सर्व प्रकारसे की हुई सेवाकी परीक्षा भी की गई है, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि यदि रुक्मिणीको भगवत्सेवा न मिलेगी, तो उसके शरीरकी स्थिति भी न रहेगी, जैसे प्राणोंके चले जाने पर शरीरकी स्थिति नहीं रहती है. प्राण है तो शरीरकी स्थिति है, वैसे ही रुक्मिणीकेलिए यदि भगवान् है तो उनको सेवा प्राप्त होनेसे उसके शरीरकी स्थिति रह सकती है, अन्यथा नहीं।।२।।

सान्त्वनं कायिक त्वत्र निःसम्बन्धाद्यतो भयम्।
दोषाभावाय वाक्यं तु ईर्ष्यामात्सर्यदोषनुत्।।का.३।।

वाचिक तिरोधानसे रुक्मिणीको भगवानसे सम्बन्ध न रहनेका ज्ञान होनेसे भय उत्पन्न हो गया, भगवानने रुक्मिणीको भयभीत देखकर पलंगसे नीचे पधारकर उसका कायिक सान्त्वन किया. यदि कायिक सान्त्वन न करते तो सम्बन्ध न होता, जिससे रुक्मिणी भयग्रस्त ही रहती और दशमी(मृत्यु) अवस्थारूप दोष भी नष्ट न होता, पहले देवराज पुत्री इत्यादि वाचिक किया हुआ सान्त्वन तो केवल ईर्ष्या–मात्सर्य आदि दोषोंको नाश करनेवाला है।।३।।

निर्दुष्टायाः परिज्ञानमविरोधस्य वर्णनात्।
निरूप्यते यत सा हि न कुतश्चिद् भ्रमं भजेत्।।का.४।।

उसके सर्वदोष नष्ट हो गए, यह ज्ञान कैसे हुआ? अविरोधके वर्णनसे यह ज्ञान हुआ कि इसके दोष नष्ट हो गए हैं. यह अब निर्दोष है अतः भगवानके

वचनोंमें उसको किसी प्रकारका अब भ्रम न रहा, जैसा पहले था कि मेरा त्यागकर देंगे।।४।।

शब्दार्थयोर्विरोधः स्यात् प्रामाण्ये सर्वथैव हि।
लक्षणायामपि तथा मुख्यार्थो बाधितो यतः।।का.५।।

शब्द और अर्थका परस्पर विरोध तो प्रामाण्यमें हो सकता है, प्रमेयमें नहीं. लक्षणामें भी मुख्यार्थका बाध होता है।।५।।

अतो हि भगवद्वाक्यं दुर्ज्ञेयं सर्वथा मतम्।
यस्त्वेतस्य परिज्ञाता स न मुह्यति कर्हिचित्।।का.६।।

इस कारणसे भगवानका वाक्य सर्वप्रकार दुर्ज्ञेय माना गया है, जो निर्दोष होनेसे इसको जाना जाता है, वह कभी भी भूला नहीं जाता है।।६।।

इति कारिका सम्पूर्ण

पूर्व अध्यायके अन्तमें स्त्रियोंने जो सर्वभावसे सेवा की, उसका वर्णन किया. अब उसकी परीक्षाकेलिए यह अध्याय प्रारम्भ किया जाता है, पूर्व अध्यायमें पधारनेके समय स्वागत आदि छः प्रकारसे किया, जिसका वर्णन वहां हुआ. अब 'कर्हिचित्' श्लोकमें बीजन(पंखा करना)से पूर्वकृत स्वागतवत् छः ही प्रकार कह दिए हैं.

श्रीशुक उवाच

कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः।।१।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि एक समय जगतके गुरु अपने पलंग पर सुखसे विराज रहे थे, उस समय रुक्मिणी अपनी सखियोंके साथ आकर पंखेसे पतिकी सेवा करने लगी।।१।।

भगवान् सुखपूर्वक विराजमान हो गये थकावट दूर हो गई, तब रुक्मिणी सेवा करने लगी क्योंकि थकावटके समय सेवा रुचिकर नहीं होती है इसलिये कहा है कि 'विश्रमान्ता सेवा निरूपिता' थकावट मिटजानेके बाद सेवा करनेका शास्त्रोंमें निरूपण है अपने पलंग पर विराजमान हुए यों विराजना अग्रिम कार्यकी आवश्यकता निरूपण करता है, अथवा भगवान् कदाचित् सभासे उठकर रात्रिके समय रुक्मिणीके घर पधारे, पधारने पर रुक्मिणीने छ प्रकारसे स्वागत आदि सर्वविधि की, पश्चात् अपने पलंग पर बिठाया. वह घर कामकी कलाओंसे पूर्ण

था इससे यों जाना जाता है, कि इस प्रकारके गृहके सजानेकेलिये पिता आदिने सुख निवासार्थ सब सामग्री भेजी है यदि पिता आदिने नहीं भेजी हो, भगवानकी दी हुई होती तो भगवान् इस प्रकारके वचन नहीं कहते, वह भी भावको समझनेवाली है, यदि भावज्ञ न होती तो इस प्रकार साभिमान सेवा करनेमें प्रवृत्त न होती, अतः भगवानकी न दी हुई किन्तु अपनी ही शय्या पर दीनभावका त्यागकर अर्थात् साभिमान शय्या पर बैठी, भगवान् वैसे वाक्य जिनसे रुक्मिणी अप्रसन्न हो, चिन्तित हुई, कैसे बोले? इस पर कहते हैं कि भगवान् जगद्गुरुके नाते सबके शिक्षादाता हैं. भ्रमसे किसीकी बुद्धि विपरीत हो जावे तो शिक्षा द्वारा उसकी बुद्धिको सुधारना, जगद्गुरुका यह ही कार्य है, भगवान् पति होनेके कारण निःशंक होकर यों करने लगे, उसको अभिमान भीष्मकी कन्या होनेसे हुआ था, रुक्मिणीके साथ अन्य सखियां भी थीं, तो भी अपने हाथसे पंखा करनेका कारण सबसे अपनी उत्कृष्टता दिखाना था।।१।।

संतोष हो जाने पर, दुःख होना योग्य नहीं, यदि यों कहो, तो उसका उत्तर 'यस्त्वेतत्' श्लोकमें कहते हैं.

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः।।२।।

जो ईश्वर इस जगतको लीलासे ही रचता, पालता और नाश करता है, वह ही अजन्मा अपनी मर्यादाके पालनकेलिए यादवोंमें प्रकट हुआ है।।२।।

दोनों तरह करनेमें भी भगवानको दोष नहीं है. भगवान् आदिमें जैसे उत्पत्ति हर्षसे करते हैं, वैसे स्थिति तथा प्रलय भी करते हैं, हर्ष आदिका नाश भी भगवानका कार्य ही है. और विशेषमें, भगवान् अपनी धर्म आदिकी मर्यादाकी रक्षाकेलिये ही अवतीर्ण हुवे हैं, यदि यों न होवे तो अजन्माका यादवोंमें प्राकट्य न होवे, भगवानका प्रलयमें कुछ उद्योग दीखता है, वह समय वैसा होता है. यदि यों कहो, तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'लीलया' भगवानका सर्वकार्य लीलामात्र है, आपको किसी कार्य करनेमें परिश्रम नहीं होता है उनको किसी साधनकी भी आवश्यकता नहीं है, अनुग्रहस्थ यदुको विहितकाल आदिकी भी अपेक्षा नहीं है, प्रभु स्वभाव भी अन्य प्रकारका करके पधारे हैं तो भी वे जिस कार्यकेलिये आये है, उस कार्यका करना अयोग्य नहीं होता है अर्थात् युक्त ही होता है।।२।।

तो देश वा कालवश होकर भगवानने यों कहा होगा? यह शंका

मिटानेकेलिये घरकी शोभाको 'तस्मिन्नन्तर्गृहे' श्लोकसे कहते हैं.

१.गृह सुन्दर नहीं होगा, अथवा उसकी आयु स्वल्प होगी, इन कारणोंसे भगवानसे रुक्मिणीको ऐसे वाक्य कहे होंगे, जिसके उत्तरमें दिखाते है गृह भी सुन्दर था तथा आयु भी स्वल्प नहीं है.

तस्मिन् अन्तर्गृहे भ्राजन् मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि।।३।।
मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते।
जालरन्ध्र प्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽरुणैः।।४।।
पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना।
धूपैरगरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः।।५।।

घरके भीतर सुन्दर चन्दोआ बान्धा हुआ था, जिसमें देदीप्यमान मोतियोंकी मालाएं लटक रही थी चारोंतरफ मणियोंसे बने दीपक जगमगाते थे, मधुमल्लिकाके पुष्पोंकी मालाओं पर भ्रमरोंके झुण्ड गुञ्जारकर रहे थे, जालियोंमेंसे चन्द्रमाकी निर्मल किरणें भीतर प्रविष्ट हो रही थी. वायु पारिजात वृक्षके वनकी सुगन्धीको लेकर वहां गृहमें आ रही थी. हे राजन्! जालियोंमेंसे अगरके धूपकी सुगन्ध सहित धूम्र बाहर निकल रहा था।।३-५।।

रसकी अधिकरणभूत उसका छः, चार और दो लोकोंसे वर्णन करते हैं, गृहके मध्यमें कहनेका भाव यह है कि वहां एकान्तता थी, उसमें भी 'तस्मित्' शब्द कहकर बताया कि वह प्रसिद्ध था, इसलिये वह स्थान कामस्थान अर्थात् आनन्दका था न कि क्रोध आदि करनेका स्थान है, अतः प्रथम उसकी शोभाका वर्णन करते हैं, जिस चन्दोआमें देदीप्यमान मोतियोंकी मालाएं लटक रही थी उससे सुशोभित गृह था. वैसे मोतियोंकी मालाओंसे युक्त चन्दोआ जहां होता है, वह कामक्रीड़ाका स्थान ही होता है, वैसा गृह मणिसे बने हुए दीपोंसे भी चारोंतरफ सुशोभित हो रहा था और चारोंतरफ केवल मल्लिकाके पुष्पोंकी मालाओंसे सुसज्जित था, शृंगाररसके भावोंको प्रकट करानेवाले, अनुभावकोंको कहते हैं, जहां भ्रमरोंका कुल गुञ्जारकर रहा है, अथवा भ्रमरोंका मधुरगान हो रहा है, चन्द्रमा भी रसको जगानेवाला है, अतः उसकी किरणों जालियोंके छेदोंसे भीतर प्रविष्ट हो रही थी, वे किरणें भी उदयकालीन लाल किरण थी, जिससे रागका उद्भव शीघ्र होता है, काम रसको जगानेवाले अलौकिक पदार्थका

निरूपण करते हैं, प्रथम भेजे हुए पारिजात कल्पवृक्षके पौधे सर्वत्र स्थापित किये थे वे अब वनरूप हो गये हैं, वे उसके घरके चारोंतरफ थे, झरोखोंके रास्ते उनकी गन्ध वायुके द्वारा गृहमें प्रविष्ट हो रही थी, ये पूर्वोक्त सर्व पदार्थोंसे सुशोभित गृह था, अब उसकी शीतलता और मन्दताके वर्णन करनेकेलिये कहते हैं कि, 'उद्यान शालिना' उद्यानमें बावड़ियां तथा झरणे भी थे, वहां भी उद्यान ही शाला थी, जिससे मन्दता भी आती है.

सहज उद्बोधकोंको कहकर अब कृत्रिम उद्बोधकोंको कहते हैं, अगरसे युक्त अनेक प्रकारके द्रव्योंसे उत्पन्न धूपोंसे वह गृह सुगन्धित था, जिनसे भी रसका उद्बोधन होता था, हे राजन्! विश्वासकेलिये कहा है, वह धूपका धूम्र तो भीतर ही हो रहा था अन्य गन्धकी भांति वायु द्वारा भीतर नहीं जाता था, क्योंकि धूप भीतर जलाया गया था. इसलिये जालियोंके छेदोंसे बाहर आ रहा था।।३-५।।

निम्न 'पयः फेन' श्लोकमें शोभाका वर्णन करते हैं.

पयः फेननिभे शुभ्रे पर्यंके कशिपूत्तमे।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम्।।६।।

दूधके फेनके समान स्वच्छ व कोमल बिछौनेवाले पलंग पर, सुखसे विराजमान अपने पति श्रीकृष्ण, जो जगतके ईश्वर हैं, उनके पास आई।।६।।

दूधका झाग निरन्तर फूला, विचित्र तथा स्वच्छ रहता है, वैसे ही पलंग पर भी सूत्रमें बान्धे हुए दान्त एवं हीरोंसे निर्मित होनेसे शुभ्र कोमल तथा सुन्दर बिछोना बिछा हुआ था जिस पर रस देनेवाले प्रभु इस प्रकार विराज रहे थे जैसे आनन्द प्राप्त होवे, आप जगतोंके ईश्वर हैं अतः वैदिक शंका भी नहीं हो सकती है, एवं 'पति' होनेसे लौकिक शंका भी निवृत्त हो जाती है।।६।।

आप ईश्वर हैं एवं रुक्मिणी कुलवधू है इसलिये भगवान् स्वतः प्रवृत्ति करें तो अयोग्य देखनेमें आवे अतः रुक्मिणी स्वयं समीप आकर पंखा करने लगी, जिसका वर्णन 'वाल' श्लोकमें करते हैं.

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात्।
तेन वीजयती देवी उपासांचक्र ईश्वरम्।।७।।

रत्नोंकी डाण्डीवाली छोटी पंखी, सखीके हाथमेंसे लेकर उससे भगवानकी हवा द्वारा सेवा करती हुई समीप आकर खड़ी रही।।७।।

छोटी चंवरी[१] जिसके डण्डे रत्नके थे वह सखीके हस्तमें थी किन्तु रुक्मिणीको अपना दासीपन प्रकाशित करना है, न कि नायिकापन, इसलिये वह चंवरी सखीके हाथसे ले ली, यदि न लेती तो धृष्टता देखनेमें आती, उसके हाथसे लेनेसे किसी प्रकार बिगाड़की सम्भावना नहीं थी, कारणकि भगवानकी वायुसेवा करनेमें विलम्ब न हो जावे, इसलिये उसके हाथसे ले ली और वायुसे सेवा करने लगी वह सेवा भी रसको जगानेवाली है, सेवासे ईश्वर प्रसन्न होते है इसलिये वह भी करने लगी, अर्थात् समीप स्थितिका तात्पर्य ही है, सेवा करनी।।७।।

१.एक प्रकारके हरिणके पूंछसे बनी हुई छोटी चंवरी-चंवर.

रस जगानेमें मुख्य आलम्बनविभाव है जिसका वर्णन 'सोपाच्युतं' श्लोकसे करते हैं.

सोपाच्युतं क्वणयती कलनूपुराभ्यां रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्र्यहस्ता ।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहारभासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या।।८।।

श्रीकृष्णचन्द्रके समीप मणिजड़ित नूपुरोंके झन्कार शब्दको करती हुई शोभा देती थी और अंगुलियोंमें मुन्दरी, पहुंचेमें कंकण तथा हस्तमें चमरी धारण की थी, साड़ीके छोरसे ढके हुए स्तनोंकी केसरसे लाल हुए हारकी शोभायुक्त कमरमें धारण की हुई मेखला, जिनसे शोभित हो रही है।।८।।

धीरे-धीरे चलनेसे नूपुरोंकी अव्यक्त मीठी झनकार करती थी, कमरके भारसे स्थिर थी अतः खड़ी रहनेमें अशक्त थी, जिससे धीमे-धीमे चलती थी, इस कारणसे नूपुर स्वतः शब्द करते थे, वैसी रुक्मिणी आग्रहसे सेवा करती हुई भी सुशोभित होती थी, भगवानके समीप रुक्मिणीका जो हस्त आता था उसका वर्णन करते हैं, उस हस्तमें अंगूठियां, कंकण और चमरीकी डाण्डी थी, वस्त्रके कोनेसे आच्छादित स्तनोंकी केसरसे लाल बने हुए हारकी शोभासे तथा कटितट पर धारण की हुई कीमती मेखला(तडागी-करधनी)से सुशोभित हो रही थी, रसके उत्पन्न करनेवाले दो स्थान, हस्त और पाद दोनोंका वर्णन पूर्वार्धसे ही किया, इस प्रकार रसके स्थान आदि, मध्य और अन्तमें वर्णन किया, भगवानका और रुक्मिणीका मुख भी सुन्दर न होनेसे उनका तथा आन्तरभावका वर्णन नहीं किया।।८।।

यद्यपि देश और काल रसोत्पादक गुणवाले हैं तो भी भगवानमें वे रस उत्पादन नहींकर सके, भगवान् भी रसके अनुभवकेलिये नहीं आये हैं, वे तो

धर्मरक्षा और निरोध करनेकेलिये ही आये हैं, इसलिये यहां यदि रसानुभव करेंगे तो बाधित होगा, उस दोषका निराकरण करनेकेलिये कुछ 'तां रूपिणी' श्लोकमें कहते हैं.

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं च दृष्ट्वा या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।
प्रीतः स्मयन्नलक कुण्डल निष्ककण्ठ वक्त्रोल्लसत् स्मितसुधां हरिराबभाषे।।९।।

लीलासे धारण किए हुए आपके रूपके समान जिसने रूप धारण किया है और आपके सिवाय अन्य कोई जिसका आश्रय नहीं है, ऐसी यह साक्षात् लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणी है. अल्कें, कुण्डल ग्रीवाभरणयुक्त कण्ठसे जिसकी शोभा बढ़ रही है, जिसके मुखमें मन्द मुस्कानरूप अमृत देदीप्यमान हो रहा है, उसको देख, प्रसन्न हो, मुस्कराते हुए हरि कहने लगे।।९।।

भगवानकी जो लक्ष्मी है, वह नियत तथा छोड़ने योग्य नहीं है, वैसीको मान नहीं देते हैं इस पर उसकी विशेषताका वर्णन करते हैं वह गुणोंसे प्रसिद्ध है, लक्ष्मीरूप है, जिससे स्वरूपसे उत्कृष्ट है, और इसकी दूसरी कोई गति(आश्रय) नहीं है, क्योंकि भक्त है, यों कहनेसे यह सिद्ध किया है कि यह भगवानके योग्य है, उसके तीन गुणोंको भी जानकर यों कहा है, उसकी स्पष्टता करते हैं 'दृष्ट्वा' यों ही नहीं कह दिया कि यह योग्य है किन्तु देखकर फिर निर्णय दिया, जैसेकि उसकी आकृति भगवानके अनुरूप न होगी, यदि यों कहा जाये तो कहते हैं कि नहीं, आपने जो लीलासे आकृति धारण की है वैसी ही इसकी आकृति है, अर्थात् आपके समान रूपवाली है, उसके गुण आदिसे भगवान् प्रसन्न हुए यदि भगवान् गुणोंसे प्रसन्न न होते तो वे गुण अगुण हो जाते अतः उन गुणोंसे प्रसन्न हुए भी भगवान् आश्चर्ययुक्त हो गये वैसे गुणवालेमें गर्व उचित नहीं. गर्व होनेसे गुण नष्ट हो जाते हैं, अतएव प्रसन्न होते हुए भी आश्चर्यवाले होने लगे, जब भगवान् सम्मुख हो हसमुख हुवे तब सुन्दरमुख (भगवानको अपने सम्मुख जानकर) देख, वह स्वयं भी वैसी हुई, इसका वर्णन शरीरकी भांति मुखका चारोंतरह वर्णन करते हैं, ऊपर अलकें हैं, दोनोंतरफ कुण्डल हैं, नीचे पदकसे युक्त त्रिवलीरूप कण्ठ, स्वरूपसे भी सुन्दर है, नहीं तो कण्ठ पद व्यर्थ हो जाये, इस प्रकार तीनोंसे जो सुन्दरमुख, उसमें देदीप्यमान जो मुस्कुराहट, अत्यन्त प्रफुल्लित रसकी तरह थी, यह मुसक्यान ही 'सुधा' है. यह सुधा महादेवके जलाये हुए कामको सजीवकर रही हैं, ऐसी रुक्मिणीको कहने लगे, कहनेमें कारण यह है कि आप 'हरि' हैं.

दोषोंको नाश करनेवाले है, अतः उसके भी दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं।।९।।

'राजपुत्री' श्लोकसे ११श्लोकोंमें भगवानने जो वचन कहे उनका वर्णन करते हैं.

श्रीभगवानुवाच

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपाल विभूतिभिः।

महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः।।१०।।

भगवानने कहा, हे राजपुत्री! लोकपालोंके समान विभूतिवाले, महानुभाव, श्रीमन्त धीररूप उदारता तथा बल संयुक्त राजालोग तुम्हारी अभिलाषा करते थे।।१०।।

भगवानने इस प्रथम श्लोकमें सात विशेषणोंसे उसका उत्कर्ष कहा है, और अपने धर्मोकी विपरीतता इसतरह दिखाई जैसे आप भगवान् हैं, ऐसा देखनेमें न आवे, चतुर्विध पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिये विपरीतपनेसे चार श्लोक निरूपण किये हैं, उनमें उन(रुक्मिणी)का किया हुआ कार्य योग्य नहीं है, श्री और कीर्तिसे विपरीत है, यह प्रथम श्लोकमें निरूपण करते हैं, इसमें भी प्रथम श्रीके विपरीत कार्य किया, यह दिखानेकेलिये कहा कि आप जाति तथा कुलसे उत्तम हैं, क्योंकि राजपुत्री हैं, अतः ग्वालेसे सम्बन्ध अपनी जाति और कुलकी श्रीके विपरीत किया है. दूसरा आप रूपसे सुन्दरी होनेसे राजाओंके योग्य हैं, और राजा आपको चाह रहे हैं, उनसे सम्बन्ध न कर एक ग्वालेसे कर लेना यह भी उचित नहीं किया है, वे चाहनेवाले राजा साधारण नहीं थे किन्तु लोकपाल सदृश विभूतिवाले थे, यों कहनेसे माहात्म्य प्रकट किया और गुण प्रकट किये. उन राजाओंकी तुलनामें भी आपका उत्कर्ष विशेष है, क्योंकि वे महानुभाव श्रीमन्त और रूप, उदारता तथा बल, इनसे पूर्ण थे तो भी आपने उनका त्याग कर दिया, उत्कर्ष दो तरहके होते हैं १.बाह्य २.आन्तर, उनमें फिर बाह्य लौकिक, अलौकिक प्रकारसे दो तरहके हैं, वे दो बताते हैं, एक महान अनुभाव, दूसरा श्रीसे युक्त, आन्तरका रूप कहते हैं. रूपसे शरीरकी सुन्दरता, उदारता, सर्व दोषोंको निवारण करनेवाला गुण और बल, जो क्षत्रियोंको चाहिये ही, उन तीनोंसे अतिशय पुष्ट किये हुवे राजा थे इन गुणोंवालोंको त्याग दिया, जिससे तुम्हारा वह कार्य अभिनन्दनके योग्य नहीं है इस प्रकार एक श्लोकसे कहा है।।१०।।

दूसरी गति न होनेसे यों करना पड़ा, यों कहना ठीक नहीं है. 'तान् प्राप्तान्' श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं.

तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन्स्मरदुर्मदान्।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान्।।११।।

कामदेवके मदसे मत्त तथा प्रार्थना करनेवाले चैद्य आदि राजा लोग जिनको तुम्हारे भ्राता और पिताने देनेको कहा था, उनको छोड़, हम जो तुम्हारे समान नहीं हैं, उन्हें क्यों वर लिया?।।११।।

जहां बहुतोंका निर्देश हो वहां विचारकर ग्रहण करनेकेलिये होता है, कारण कि सब प्रार्थी हैं, सब तेरी ही अपेक्षा करनेवाले है. तुम्हें लेनेकेलिये पहुंच भी गये थे जिससे शरीरके साथ भी सम्बन्धित थे, इस प्रकार बाहर-भीतर जिन्होंने सम्बन्ध जोड़ा है, उनका पूर्णरीतिसे त्यागकर, उस पर भी अन्दर-बाहर तेरे समान ही थे, कामादिसे शरीरके साथ सम्बन्ध थे, विवाहकेलिये तो समय हुवा ही था, वह आगे कहेंगे वे अप्रसिद्ध भी नहीं, इसलिये 'चैद्यादि' पद दिया है, जनपद[१] शब्द देनेसे विशेष प्रसिद्धि प्रकट की है फिर वे कामके मदसे मस्त हैं, अतः देश-काल आदिकी परवाह न कर पहले स्त्रीका ही हित करते हैं, यों भी तुम नहीं कह सकती हो, कि उनसे विवाह करनेमें लोक तथा शास्त्रका विरोध था, क्योंकि तुम्हारे भ्राता तथा पिताने उससे सगाईकर दी थी, भ्राता पहले इसलिये कहा कि मुख्यरूपसे भ्राताने ही देनेको कहा था फिर पिताने भी दी, पिता ही अपनी कन्या किसीको दे सकता है, कन्या अपने आप किसीको अर्पण नहींकर सकती है इस लोकके सुखार्थ, विवाह किया जाता है, वह विवाह, युक्ति और शास्त्र तथा लोकानुसार उससे ही करना चाहिये, यों सिद्ध होते हुए भी उसको त्याग किस कारणसे हमको वरा है, उसमें कुछ विशेषता न देखी, यदि यों कहो, तो कहते हैं, 'असमान्' हम तुमसे सम्बन्ध कुल आदिमें समान नहीं है जैसे वह है क्योंकि तुम राजपुत्री हों, वह भी राजा होनेसे तेरे समान है, मैं या मेरा कुटुम्ब राजा समान नहीं है, यदि लौकिककेलिए वरण किया है, तो हममें लौकिक उत्कर्ष नहीं है, आसक्तिके अभावमें सुखका भी अभाव होता है इस समय अलौकिकका भी सम्भव नहीं, अतः क्यों वरा? यदि कोई कारण होवे, तो कहना चाहिये, कहनेका यह ही भाव है।।११।।

१.चैद्य पदसे देश विशेष कहा जिससे प्रसिद्धी ही है.

यदि रुक्मिणी कहे कि इच्छा ही कारण है, सब कोई श्रेष्ठका ही वरण करता है, इसलिये वस्तुका विचार करना ही व्यर्थ है, जिसका उत्तर भगवान् 'राजभ्यो' श्लोकमें देते हैं.

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान्।
बलवद्भिः कृतद्वेषान्प्रायस्त्यक्तनृपासनान्।।१२।।

हे सुन्दर भौंहवाली! राजाओंसे डरकर जो समुद्रके शरण गए और जिन्होंने बलवानोंसे शत्रुताकर रखी है और राजगद्दी छोड़ दी है।।१२।।

रूपतः फलतश्चैव सम्मत्या युक्तिभिस्तथा।
चतुर्भिर्दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युतः।।का.१।।

भगवान् यहां स्वरूप, फल, सम्मति और युक्ति इन चारोंसे चार प्रकारके दूषण कहते हैं।।१।।

चारोंमेंसे प्रथम स्वरूपका दोष बताते हैं, जरासन्ध आदि राजाओंसे डरे हुए है, भयानक रससे जो युक्त हैं, वे सुख देनेवाले नहीं होते हैं, विशेषमें डरके कारण समुद्रकी शरण ली है, दूसरेके शरण जाने पर स्वतन्त्रता नहीं होती है, उसके आधीन रहना पड़ता है, आधीनोंको सुख प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि पराधीनताके कारण वे कोई साधन स्वतन्त्रतासे नहींकर सकते हैं, बहुवचन देनेका कारण सब यादवोंका लक्ष्य कराना है, भगवान् जैसे कपटसे मानुषलीलाकर रहे हैं, वैसे ही कपटसे, यादवलीला भी ग्रहण की है, इसलिये लीलामें उनके समान धर्म कहना योग्य ही है. लौकिक दृष्टिसे ही स्वीकृत किया है, यों उसके उपयोगी ढंगसे पदार्थोंका निरूपण करना भी शास्त्रीय दोष है, तीसरा दूषण कहते हैं बलवानोंसे शत्रुता की है, केवल द्वेष करना भी उचित नहीं है, फल प्राप्त होनेके बाद तो दूषण नहीं है, 'बलवान' पदसे यह भी सूचित किया है कि उसका फल, विपरीत भी हो सकता है, बहुतोंके साथ कलह करना योग्य नहीं है, चारोंतरफ शंका बनी रहती है, जिससे स्वास्थ्य नहीं रहता है, यह लोकप्रतीतिसे निरूपण करते हैं, सब बलवानोंसे विरोध करनेका फल भी बताते हैं, बहुतकर राज्यासन छोड़ने पड़े है, ययातिका शाप तो था ही यादव राज्य न करेंगे, अर्जुन आदिको पृथक् दिखानेकेलिये 'प्रायः' पद दिया है, अतः राजाकी कन्याको राजासे विवाह करना ही मुख्य कर्त्तव्य है, अथवा राजाका मित्र भी राजाके समान होता है, अथवा अपने देशमें स्थित छोटे राजासे ही विवाह करना चाहिये, अथवा इसी

तरह निकृष्ट पक्षमें भी निर्भय रहा जा सकता है, चार प्रकारके दोषवालेसे तो विवाह करना ही नहीं चाहिये।।१२।।

नीतिका त्यागकर, बिना विचार, मोहसे यदि विवाह किया जाता है तो उसमें रुकावटें आती हैं, जिनका वर्णन 'अस्पष्टवर्त्मना' श्लोकमें कहते हैं.

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम्।
आश्रिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः।।१३।।

हे सुन्दर भ्रौंहेवाली, जिनकी नीतिका परिज्ञान नहीं है, जिनका मार्ग लोकसे पृथक् है, ऐसे पुरुषोंका जो स्त्रियां आश्रय लेती हैं वे बहुत करके दुःखी होती हैं।।१३।।

यदि दूषणों पर ध्यान न देकर अलौकिक दृष्टिसे विवाहकर लेती हैं तो भी वे स्त्रियां अलौकिक व्यवहार न जाननेसे लौकिक प्रकारसे चलेगी, जिससे दोनों तरफसे भ्रष्ट होकर दुःखी होती है, अलौकिकोंके लक्षण कहते हैं, जिनका मार्ग स्पष्ट नहीं है, अर्थात् समझमें नहीं आता है, जिसकी रीति जानी जाती है उसके साथ अनुकूल व्यवहार किया जा सकता है, कभी वे लोकानुसार भी व्यवहार करते हैं किन्तु उनका मार्ग स्थिर नहीं है तो भी उनके ग्रहण किये हुए लौकिक मार्गको जाना जा सकता है, तो फिर दुःख क्यों? यदि यों कहो तो, इस पर भगवान् कहते हैं कि वे लोकमें रहते हुए भी अलौकिक मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् उनका लौकिक व्यवहार भी अलौकिक है, अतः जिनकी गति स्थिर नहीं है, ऐसोंका आश्रय करनेवाली दुःखी ही होती हैं. 'प्रायः' पद देनेका आशय है कि दुःखी होकर भी यदि उनमें ही अपनेको प्रवणकर देती है तो वे भी उनके समान हो जाती है।।१३।।

जिसको कोई भी नहीं भजता है, उसको यदि कोई भजे तो दुःखी होता है, यह कहनेकेलिये 'निष्किञ्चना' श्लोकमें कहते है कि मुझे कोई नहीं भजता है.

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।
तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे।।१४।।

हे सुन्दर कटिवाली हम निर्धन होनेसे निर्धनजनोंके प्रिय हैं, इस कारणसे धनाढ्य, बड़े लोग बहुत करके हमको नहीं भजते हैं।।१४।।

धनवाले ही स्त्रियोंको प्रिय हैं, हम तो निर्धन हैं, हमारे वे होते हैं, जो भी निर्धन हैं उनको ही मैं प्रिय हूं और वे ही मुझे प्रिय लगते हैं, यों कहकर साक्षात्

तथा परम्परासे भी अपने पास धनका अभाव दिखाया. यह प्रायः(बहुत करके) होगा इसके उत्तरमें कहते हैं, कि यह सर्व मनुष्योंकेलिए निश्चित है, इस कारणसे धनिक बहुतकर मुझे नहीं भजते है, मेरे भजन करनेवालोंके धनका दोनों तरह नाश होता है, यद्यपि मुझमें स्नेह करें तो सर्वस्व मुझे अर्पण करना पड़ेगा, जिससे भी धन समाप्त होगा, यदि हमारा माहात्म्य सुनकर आन्तर भजन भी करेंगे तो भी वह हमारे प्रिय होंगे, तब भी उसको अपना प्यारा बनानेकेलिये उसके धनका नाशकर उसे निधन करूंगा. इस तरह दोनों प्रकार लोकमें प्रतिष्ठा करनेवाली साहूकारी नाश हो जाती है, जिससे वे मुझे नहीं भजते हैं तेरी आढ्यता(धनाढ्यता) तो स्वरूप ही है तो तुम्हारे स्वरूपका ही नाश हो जानेकी सम्भावना है, यों भाव है. 'प्रायेण' पद कहनेका आशय यह है कि कोई-कोई अम्बरीष आदि जैसे आढ्य(धनवान) भी भक्त होते हैं।।१४।।

आपने जो इस प्रकार कार्य किया है वह नीतिसे भी विरुद्ध है यह 'ययो' श्लोकमें बताते हैं.

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्।।१५।।

जिन दोनों(स्त्री-पुरुष और मैत्री)का धन, जन्म, ऐश्वर्य, रूप आदि समान हो, उन दोनोंका परस्पर विवाह एवं मैत्री होनी चाहिए. एक उत्तम हो और दूसरा अधम हो, उनका विवाह और मैत्री कभी भी न होनी चाहिए।।१५।।

सुमध्यमे! यह सम्बोधन बताया है कि तुम निर्धनके घर न रह सकोगी, कार्य करनेकी असमर्थतासे तथा वहां भोगोंका अभाव होनेसे, इस कारणसे ही समानमें ही विवाह करना चाहिये, न कि असमानसे, जिनसे लौकिक समानता सिद्ध होती हैं, वे धर्म कहते हैं, जिन स्त्री-पुरुष अथवा मित्रोंका धन समान हो, अर्थात् दोनों समान धनिक हो, समान कुलमें जन्म हुवा हो, आयु समान हो, ऐश्वर्य समान हो, और आकृति समान हो, वय, युवावस्था, भव, उत्पत्ति, जन्म और भव दो शब्दोंका काल और देशकृत भेद समझना चाहिये, 'आत्म' पदसे यह भाव बताया है कि सर्वथा समानता न योग्य है और न उचित है, अपनी योग्यताके अनुसार ही समता कहलाती है. जैसे चौबीस वर्षका वर हो तो सोलह वर्षकी कन्या होनी चाहिये, पांच धर्म समान चाहिये ऐश्वर्यवाली आकृति हो क्योंकि 'कन्या वरयते रूप' कन्या रूपको वरण करती है. इस श्लोकमें भी पांच धर्म कहे

हैं, रूपका तात्पर्य है 'आकृति' वित्त तो स्पष्ट है, ऐश्वर्यके स्थान पर यहां शास्त्रका ज्ञान कहा है, कुल अर्थात् जन्म, भवका अर्थ समृद्धि, यह पद पक्वान्नोंके स्थान पर समझना चाहिये अर्थात् समृद्धि पदसे वरके घर अच्छे-अच्छे पक्वान्न बनते हों, वह ही यहां भी ग्रहण करने चाहिये, लौकिक दृष्टिसे राजाके समान किसी अन्यके पास धन नहीं होता है, जिससे समानताका अभाव सिद्ध है. यादव कुलीन नहीं है यह प्रसिद्ध ही है, जिससे जन्मसे भी समानता नहीं. (मेरी) आकृति भी गौरवर्णवाली नहीं है, राज्य न होनेसे ऐश्वर्य भी नहीं है, उत्पत्ति भी वहांसे निवृत्त हो जाती है, देवयोगसे विवाह हो जावे तो भी मैत्री न रहेगी, प्रकृत(चालू प्रसंग)में मैत्रीका भी उपयोग होनेसे ग्रहण है, उत्तम और मध्यमका तो कभी भी नहीं होना चाहिये, यदि कदाचित् हो भी जावे तो वह सुख देनेवाला नहीं होगा यह विलक्षणता है।।१५।।

इसके अनन्तर क्या करना चाहिये? यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'वैदर्भी' इन दो श्लोकोंसे देते है.

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा।।१६।।

हे रुक्मिणी! तुमने इस बातको न समझकर और दूरका विचार भी न कर, केवल भिक्षुओंके सराहने पर विश्वासकर, गुणोंसे हीन हमको भूलसे वर लिया है।।१६।।

एक श्लोकसे तुम्हारा किया हुआ यह कार्य भूलवाला है अर्थात् अज्ञानसे किया गया है. यदि अज्ञानसे भी हो गया तो अब क्या होगा? हुआ सो तो हुआ, जिसकेलिये कहते हैं, कि यों नहीं है, इस भूलको मिटानेका भी उपाय है, नीतिशास्त्र कहता है कि 'अज्ञानात्कृतमकृतमेव' जो कार्य अज्ञानसे किया है, वह नहीं किये हुएके समान है, इसलिये हविके उलटनेकी तरह उन कार्यको भी बदला जा सकता है, अब यह ही उपाय है, यों प्रथम अज्ञान बताया, वैदर्भी नाम देनेसे बताया है कि तू विदर्भके राजाकी बेटी होनेसे सत्कुलवती है, हमारे कुल आदिका ज्ञान न होनेसे हमको वरा है, यह उसके अज्ञानका समर्थन, दूसरे कार्यके विधानकेलिये किया गया है, न कि दोषारोपण करनेकेलिये, आप यों कैसे कहते हैं? जब स्तोत्र द्वारा और प्रार्थनासे जाना जाता है कि वह पदार्थोंको जानती है तब आप अज्ञान कैसे कहते हैं? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'अदीर्घसमीक्षया' इस

कार्य करनेका अन्तिम परिणाम क्या होगा यह विचार नहीं किया, ऊपर-ऊपरसे उत्कर्ष देख अलौकिक न जानकर लौकिक सुख होगा, इतना ही विचार वरण किया, यह ही तुम्हारी अदूरदर्शिता है, वास्तविक विचार किया जाय तो भी भगवान् संसारको मिटानेवाले हैं, न कि संसार देनेवाले हैं, इसलिये भी तुमने सचमुच दीर्घदृष्टिसे कार्य नहीं किया, जिसमें हेतु बताते हैं कि हम गुणोंसे हीन हैं, गुणोंवालेसे ही संसार सुख प्राप्त होता है, यदि कहो कि नारद आदि भक्तोंने प्रथम ही आप अनन्त गुणवाले हैं यों स्तुति की है, फिर आप कैसे कहते हैं कि हम गुणहीन हैं, इस पर कहते है कि हमारे गुणगान भिखारियोंने किये हैं, भिक्षुक वस्तुके स्वरूपको नहीं जानते हैं, सामनेवालेका लाभ वा हानि किसमें है, इस पर ध्यान न देकर केवल अपना स्वार्थ जिससे सिद्ध होवे वह कार्य करते हैं, यदि यों न होवे तो स्तुतिके अनन्तर याचना न करें, यह आगे कहा ही है कि 'नूनं [१]स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम् यदि वेद न याचेत' इस प्रकार सामान्यरूपसे याचकके दूषण कहे हैं, अतः आप तो गुणातीत है केवल मोक्षार्थी हैं, जो संसार चाहते हैं वे भी अवसर पर स्तुति करते हैं, इसलिये भिखारियोंसे हम स्तुत है यह तो एक प्रकार दुषण ही है, वहां भी सीमारहित झूठी बढ़ाई करते हैं, उन भक्तोंका तो अपने आचरणसे ही पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जाता है. मोक्ष प्राप्तिमें भी मेरे देनेकी अपेक्षा नहीं है इसमें भी जो परम भगवदीय हैं उनको तो बिल्कुल ही मेरी वांछना(गरज) नहीं है अतः व्यर्थ ही स्तुति करते हैं, किन्तु स्तुति करनेसे उनको आनन्द आता है केवल इसलिये इतनी बड़ी-बडी प्रशंसा करते हैं, जो फिर संसार सुख चाहनेवाले हैं वे तो इसको ग्रहण करना नहीं चाहते हैं अतः स्वतः व परतः अभिप्राय न जानने पर तुझे भ्रम उत्पन्न हो गया, इस कारणसे तूने अज्ञानसे मुझे वर लिया है।।१६।।

१.निश्चय लोक स्वार्थी होते हैं दूसरेके संकटको नहीं देखते हैं, यदि देखते तो याचना न करते.

यों है तो इसके बाद जो करना चाहिये वह बता इसे यह इस 'अथात्मनो' श्लोकमें पूछती है.

अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यते।।१७।।

अब भी अपने योग्य उत्तम क्षत्रियको तू वर ले, जिससे इसलोक व परलोककी कामनाएं तू पूर्णकर सकेगी।।१७।।

अथ शब्द कहकर यह बताया है, कि अब भिन्नक्रम(सिलसिला) प्रारंभ होता है, पिताके घर जाकर पहलेकी तरह रहकर अपने अनुरूप संसारमें आसक्त किसी क्षत्रिय श्रेष्ठको वर ले. स्त्रियोंका स्वभाव संसार ही चाहता है, इसलिये उनकी मुक्ति नहीं होती है, यह मर्यादा है, स्त्री भर्तासे सायुज्य पाती है, अतः यह सर्व तब होता है, जब भर्ता समान होवे, विषम हो तो नहीं होता है, अन्य प्रकार होने पर, स्त्री वा पतिका नाश होवे, तब मैं किसकों वरु? यदि यह आकांक्षा है, तो बहिर्मुखको वरनेकेलिये कहते हैं कि 'क्षत्रियर्षभम्' क्षत्रियोंमें जो श्रेष्ठ हो, क्योंकि वे बहिर्मुख ही होते हैं यदि बहिर्मुख न होवे तो निर्दयी तथा दूसरोंका घात करनेवाले न होवें, यदि क्षत्रियको वरोगी तो कोई भी निन्दा न करेगा, उनके जयमें दूसरी सम्बन्धिनियां भी ले जा सकती है, इसमें कोई दूषण नहीं है, उनको भी आकांक्षा तो है ही यह कहा गया ही है, उससे क्या होगा. जिससे आपकी कामनाएं पूर्ण होगी, प्रवाहवत् नित्य विषय उनसे ही सिद्ध होगे, न कि अन्योंसे, इसलोक और परलोककी कामनारहित हो, वह मेरे परायण हो अर्थात् मुझे वरे कारणकि मेरी सेवासे सब जन्मोंमें इसलोक तथा परलोककी कामनाएं सिद्ध नहीं होती हैं, अतः जिसका स्वभाव संसारी हो, ऐसे क्षत्रिय श्रेष्ठका वरण करनेसे ही तुझे फलकी प्राप्ति होगी ये ही योग्य है. 'त्वं' शब्दसे बताया कि तेरा मायारूप है, कापट्य मायारूपसे ही सफल होता है, न कि ब्रह्ममें ।।१७।।

यदिमें इस प्रकार करूं, तो आप सर्वज्ञ मुझे इस प्रकार हरणकर क्यों लाये? जो यों कहती हो तो इसका उत्तर 'चैद्यशाल्व' दो श्लोकोंसे कहते हैं.

चैद्यशाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः।।१८।।
तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहृतयेऽसताम्।।१९।।

हे वामोरु! शिशुपाल, शाल, जरासन्ध, दन्तवक्त्र आदि राजा और तेरा भाई रुक्मी भी मुझसे वैर करते हैं।।१८।।

हे भद्रे! उन पराक्रमके मदसे अन्धे और अभिमानी राजाओंका मद दूर करनेकेलिए तथा तेज हरण करनेकेलिए ही तुझे ले आया हूं।।१९।।

उनके दोषोंको कहते हैं, शिशुपाल और दन्तवक्त्र ये दो तो शापके कारण शत्रु बने हैं, शाल्व तथा जरासन्ध अन्यदेवके उपासक होनेसे बहिमुख हैं, इसलिये

विरोधी हैं, सारांश यह है कि शापसे वा स्वभावसे जो दूसरेके परायण हैं वे मुझसे द्वेष करते हैं, इन ४के सिवाय जो दूसरे हैं, वे भी इस प्रकारके धर्मवाले ही हैं अतः वे भी शत्रुता करते हैं, यदि वे शत्रु ही हैं तो उनको मारा क्यों नहीं? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'नृपा' राजा हैं, राजाओंको मारा नहीं जाता है, मेरे-तेरे सम्बन्धी भी मुझसे वैर करते हैं, जिनमें तेरा भ्राता रुक्मी मुख्य है, 'च'से यह बताया है कि उसके सम्बन्धी भी शत्रु बने हुवे हैं, उनको तू समझा नहीं सकती है अतः तेरे और मेरे सम्बन्धियोंको अभिमानरूप सन्निपात रोग हुवा था उसको मिटानेकेलिये तुझे लाये है. 'वामोरु' सम्बोधनसे रुक्मिणीको दोषरहित कहा है, उनके जो दोष मिटाये वे वर्णन करते हैं वीर्यके मदसे वे अन्धे हो गये थे, जिस प्रकार अन्धा समीप स्थित खड्डेको न देख उसमें गिरता है वैसे ये अन्धे भी वैष्णवानलरूप गर्तमें गिरते थे, जिनको उसमें गिरनेसे हमने बचाया है, यह भाव है, ये ऐसे हृदयशून्य हैं, जो इनको न कोई प्रमाण है और न कोई विचार है इन कारणोंसे जो इनको अहंकार हुवा था इसको मिटानेकेलिये तुझे लाया है यह दूसरा कारण है, दोषाभाव तो प्रथम प्रतिपादन किया ही है, जिससे अन्यके भजनका समर्थन हुवा है, यदि तू कहे कि उनकी पराजयसे ही उनका गर्व नष्ट हो गया, फिर मुझे लानेकी क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'तेजोऽपहृतये' उनके तेजको भी नाश करनेकेलिये तुझे लाया गया है, जय और पराजय निश्चित नहीं रहती है, इसलिये यदि कदाचित् कभी पराजय हो भी जाय तो भी उससे जाने तक हृदयकी ग्लानि नहीं मिटनी है, यदि उनमें फिर शौर्य आजाय तो पुनः लड़ने आ जाते हैं. इस प्रकार (उनकी स्त्रीको ले आनेसे) करनेसे उनका तेज निकल जाता है, जिससे वे फिर उठ नहीं सकते हैं अर्थात् उनमें फिर लड़नेका बल आता ही नहीं है, किन्तु तेजका हरण तो दोष उत्पन्न करनेवाला होगा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'असताम्' वे दुष्ट हैं, दुष्टोंका तेज हरण करना योग्य ही है।।१८-१९।।

इस प्रकार रुक्मिणीके लानेका कारण बताया, यदि कहो कि अपने अर्थकेलिये रख लो, तो इस पक्षका समाधान 'उदासीना' श्लोकसे करते हैं.

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः।।२०।।

हम तो निश्चयपूर्वक उदासीन है, अतः स्त्री, पुत्र और धन नहीं चाहते हैं, कारणकि आत्मानन्दसे पूर्ण हैं, इसलिए घर तथा देहकी परवाह नहीं है,

ज्योतिकी तरह क्रियारहित है।।२०।।

मैंने जो कहा है, उसमें किसी प्रकार संशय नहीं करना चाहिये युक्तिसे कार्य करना चाहिये लोकमें तीन ईषणाएं हैं, १.स्त्री, २.पुत्र ३.धन. उनकी अपेक्षा तब होती है जब अन्तःकरणका रोग नष्ट न हुवा हो, उस रोगके नाश हो जाने पर उनको अपेक्षा नहीं रहती है. जो पूर्णानन्द है, उसमें दोषोंके अभावसे उदासीनता रहती है, उनसे द्वेष भी नहीं है, जिससे उनका त्याग करना भी उचित नहीं है, अतः भगवानमें उपचय और अपचय न होनेसे हम स्त्री अपत्य तथा धनकी कामनावाले नहीं है, जिससे हममें उदासीनता ही है. यहां जो भगवत्सम्बन्ध हुआ है वह दोनोंकी इच्छासे नहीं हुआ है किन्तु एककी इच्छासे ही हुआ है. कार्य दोनोंके इच्छाधीन होता है. यों उसके अनुरोध होने पर भगवानकी तरफसे वह कार्य हुआ है. यदि अनुरोध न होवे तो न होवे, इसलिये जो कार्य हुआ है वह आवश्यक नहीं है, भिक्षुकोंकी तरह अनुरोध तो नित्य नहीं होता है, अतः जहां नित्य अपेक्षावाले हो वहां जाकर कार्य करना उचित है. 'धर्मार्थकाममोक्षार्थ य इच्छेत्' धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकेलिये जो इच्छा करे, यह वाक्य भी दान पृथक् ही बताता है, उस क्रियामें भगवत्सम्बन्ध नहीं होता है, नहीं तो भगवान् उनके दाता बने ही नहीं. अपने आग्रहके सम्भव होनेसे अपनी कामुकतामें हेतु कहते हैं कि 'आत्मलब्ध्य' आत्मानन्दकी प्राप्तिसे, यद्यपि भगवानकी अकामुकतामें यह हेतु उचित नहीं है कारणकि आप स्वयं आत्मरूप हैं तथा आपमें अज्ञान आदि व्यवधान है ही नहीं, 'आत्मलाभान्नपरं विद्यते' यह श्रुति कहती है कि आत्मलाभसे विशेष कोई फल नहीं है, अतः फलरूप आत्माको फलका सम्बन्ध नहीं होता है श्रुति भी यह ही भाव बताती है तोभी जो अकामुकपनमें यह आत्मलब्धि हेतु कहा है वह केवल लौकिक उक्तिमें सम्मति दिखानेकेलिये ही कहा है जैसे लोकमें जिनको आत्मलाभ हुवा है उनको स्त्री आदिकी कामना नहीं रहती है. इस प्रकार हमें भी, कहना तो इतना ही है कि हम नित्यपूर्ण है, अर्थात् हमको तो आत्मा नित्य ही प्राप्त है जिससे नित्य ही पूर्ण है, यदि तुम कहो, कि सत्य है कि आप नित्यपूर्ण है तो भी आप क्रीडाकेलिये पधारे हैं, तो क्रीड़ाके निर्वाहकेलिये कामना करनी पड़ती ही है, तो इसकेलिये मेरा उत्तर यह है कि 'गेहयोर्ज्योतिरक्रिया' तेज प्रकट हो अथवा अप्रकट हो तो भी स्वयं कार्यमें व्यापारवाला नहीं होता है, किन्तु प्रकट होकर किसी निमित्त द्वारा अपने सम्बन्धीको प्रकाशितकर देता है सम्बन्धीके

दोषको नाश करता है अपनेको किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं. आविर्भाव देह वा गेहमें ही, दोनों समान हैं यह जतानेकेलिये सदृश शब्दसे निर्देश किया है. जैसे ज्योतिक्रिया रहती है वैसे वे भी इससे यह बताया कि भगवानका प्राकट्य तेजकी भांति है अतः हमारी क्रिया विकाररूप नहीं है, इसलिये हमको कुछ भी अपेक्षा नहीं है, और फल निश्चित नहीं है इसलिये फलकी अपेक्षामें दूसरोंका अनुसरण करना चाहिये न कि हम उदासीनोंका अनुकरण करना चाहिये।।२०।।

भगवानने अपना सम्बन्ध राहित्य बताकर मौन कर ली, यह 'एतावद् उक्त्वा' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव।

मन्यमानामविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत्।।२१।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि रुक्मिणी समझती थी कि भगवान् मुझसे कभी भी पृथक् नहीं होते हैं, अतः अपनेको ही सबसे अधिक भगवानकी प्यारी मानती थी, इस कारणसे उसका गर्व भंग करनेकेलिए ही भगवानने यह वचन कहकर मौन धारण कर ली।।२१।।

यह भगवानका तिरोधान वाणीरूपसे है यों तिरोधान होनेका कारण 'आत्मानं वल्लभाभिव' रुक्मिणी अपनेको सबसे विशेष भगवानकी प्यारी समझने लग गई थी, क्योंकि भगवान् मुझसे कभी पृथक् नहीं होते हैं, इसको गर्व हो गया था, अतः जैसे चैद्य आदिके दर्पका नाश करनेकेलिये इसको ले आये वैसे ही अभिमानको तोड़नेकेलिये सम्बन्ध विच्छेद ही योग्य समझा, सम्बन्ध रहेगा तो अहंकार उतरेगा नहीं यों विचारकर ही, यह लीला की है. 'वल्लभा' पदका भावार्थ है कि अत्यन्त प्यारी, जो वस्तु अतिशय प्रिय होती है, उसकी अपेक्षा रहती है क्योंकि वह वस्तु प्रीतिका विषय होता है, भगवानको बहुत स्त्रियां हैं, उन स्त्रियोंसे भी कार्य पूर्णकर सकते हैं, वह यों मानती है कि मैं ही एक भार्या हूं जिससे मैं ही प्रिया हूं; यदि प्रिया न होती, तो सदैव मेरे पास कैसे रहते हैं? अथवा भगवानको जानकर भी नहीं भजती है इसका ज्ञान करानेकेलिये भगवान् यों कहते हैं, 'आत्मानं वल्लभामिव' भगवानको स्त्रीकी तरह मानती है, जैसे स्त्रीसे युक्त होकर बैठा हुआ पुरुष बाहरका ज्ञान नहीं रखता है, इस प्रकार सुषुप्ति उपाख्यानमें 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' कहा है, जिसका सारांश यह है कि

जीवात्मा प्राज्ञआत्माके साथ मिलकर रहा है, यों निरूपण है, सुषुप्ति और उत्क्रान्ति भेदसे यहां इस प्रकार वर्णन है उसका ज्यों प्रबोध कराया जा सकता है, इस प्रकार इसका भी अथवा अपनेको अर्धवल्लभ यानि अपनेको अर्द्धांगिनी मानती है इसी तरह भगवानने कायिक और मानस व्यापारसे शान्ति ले ली।।२१।।

पश्चात् जो कुछ हुआ वह तीन श्लोकोंमें कहते हैं.

इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम्।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह।।२२।।

त्रिलोक पतियोंके ईश, अपने प्यारे पतिके कभी भी नहीं सुने हुए ऐसे अप्रिय वचन सुन, रुक्मिणीजी हृदयमें भयभीत हो काम्पने लगी और रोती हुई अपार चिन्तामें पड़ गई।।२२।।

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्।।२३।।

नखकी अरुण कान्तिसे शोभायमान कोमल चरणसे पृथ्वीको कुचरती हुई, अञ्जनयुक्त होनेसे, श्याम बने आंसूओंसे, केसरसे रंगे हुए स्तनोंको सींचती हुई और अतिदुःखसे जिसकी वाणी रुक गई है ऐसी वह नीचे मुखकर बैठ गई।।२३।।

तस्याः सुदुःखभयशोक विनष्टबुद्धे र्हस्ताच्छलथद् वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यत् रम्भेव वातविहता प्रविकीर्य केशान्।।२४।।

अप्रिय वचन सुननेसे अत्यन्त दुःख एवं त्यागके भयसे तथा पश्चातापसे जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है ऐसी उस रुक्मिणीके हाथमेंसे पंखा गिर गया और कंकण भी गिरने लगे, परवश बुद्धिवाली रुक्मिणीका शरीर भी मूर्छा खाकर, वायुसे गिरी कदलीके समान तुरन्त भूमि पर गिर गया।।२४।।

रुक्मिणी तीन गुणोंवाली है उसकी सम्यक् ज्ञानवाली, कुछ ज्ञानवाली और मूर्च्छित इन तीन अवस्थाओंका क्रमसे वर्णन किया जाता है, अतः सत्वसे लेकर तमोगुण पर्यन्त अवस्थाओंका वर्णन किया गया है, हर एक गुण तीन प्रकारका है, इसलिये उनकी तीन प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन किया है उनमें पहले सत्वके तीन कार्य कहते हैं यों पूर्व कहे हुए प्रकारसे निःसम्बन्धका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सुनकर प्रथम डर गई, क्योंकि समझ गई कि मेरा त्याग करेंगे, अनन्तर हृदयमें कम्पन हुआ एवं अपार चिन्ता भी हुई. चिन्ता

सात्विकी, भय तामस है, त्रिलोकीके पति हैं और मेरे भी पति हैं, इस प्रकार लौकिक-वैदिक दोनों उत्कृष्ट सम्बन्ध कहे. उस अवस्थामें और वह प्रसिद्ध कथन होनेसे सबको मालूम हो गया है, इसलिये उस वचनको सत्य भी कर दे, केवल लोक और वेदसे सम्बन्ध नहीं है किन्तु अपनेको रुचता है इसलिये कहा है कि 'प्रियस्य' यदि कहो कि जब प्यारा है तथा रुचता है तो ये वचन परिहाससे कहे हुए होंगे, तो फिर भय क्यों? जिसके उत्तरमें कहती है कि 'देवी' वह वाणी देवतारूप है, भगवान् सत्य ही कहते हैं यो रुक्मिणीने जाना, जब यों जाना तब गर्वका त्यागकर शरण क्यों न गई? इसके उत्तरमें कहा है कि दर्प(अभिमान) सदैव होता है किन्तु ऐसे बचन कभी नहीं सुने हैं वे वचन भी पूर्ण रीतिसे सुन, उनका अर्थ अभिप्राय समझकर ही प्रथम मनमें भय उत्पन्न हुआ, हृदय स्थान पर कम्पन भी हुआ. यह कायिककी तरह बुद्धिको हुवा अहंकार तो छोड़ना ही चाहिये, हृदयका कार्य चिन्ता है, इन्द्रियोंका कार्य रोदन है, इन दोनों कार्योंके करनेसे यह बताया है कि मैंने अहंकारका त्याग कर दिया है, 'ह' पद आश्चर्य अर्थमें दिया है, केवल कहनेसे ही इस अवस्थाको कैसे प्राप्त हो गई, यह आन्तर(भीतर)का भाव बताया, अब बाहरके भाव कहते हैं, 'पदा सुजातेन' बहुत कोमल अथवा लक्षणों(चिन्हों)से युक्त पादसे, उससे लक्षणोंको उत्पन्न करनेवालेके दोषको सिद्ध करती हुई यों करने लगी, अथवा चरणोकी उत्कृष्टता दिखानेके वास्ते यों कहने लगी कि अनिष्ट न होगा, जिसके नखोंमें लाल शोभा है अथवा नखोंके कारण जिसकी लालास हो रही है, जिससे नखोंका मणिरूपत्व कहा है, यह सात्त्विक उत्कर्ष है, स्वभाविक उत्पन्न उत्कर्षवाले चरणसे पृथ्वीको कुचलती(खोदती) थी, जो चिन्ताग्रस्त होती है वह यों ही करती है, इसलिये पृथ्वोंको कुचलने लगी थी. पृथ्वीको कुचलनेका निषेध है, किन्तु यह तो पृथ्वीको इस भावसे कुचलती थी कि पृथ्वीको खोलकर भीतर समा जाऊ, यह लौकिकभाषा है, लौकिकभावके निराकरणकेलिये भगवानने ये वचन कहे थे, इसलिये जो कुछ भाव होवे वह परमोत्कर्षको जब प्राप्त होता है तब फलरूप बनता है अर्थात् फल प्राप्त करता है, यह जतानेकेलिये इस प्रकार कहा जाता है अतः इसका कायिक व्यापार निरूपण किया है, अब मानस व्यापार कहते हैं. रुक्मिणीके स्तन कुंकुमके रंगसे रचित थे, उन पर विशेष शोकसे बिना रुकावटके आंखोंसे काजल मिश्रित आंसूओंकी धारा बहती हुई पड़ती थी, जिससे कालास

तथा लालास दोनों रंग घुल गये थे. नीचे मुखसे स्थित थी, यह मानसी चिन्ताकी सूचना है, अतिदुःखसे वाणी रुक गई, यों वाणीकी निवृत्ति हो गई, अर्थात् कुछ बोल न सकी, दोनोंकी क्रिया थोडी सी ही रही, वाणी तो निवृत्त हो ही गई, इस प्रकार बाहर तथा भीतरके भाव कहकर, अब देहका पात किस प्रकार हुआ जिसका वर्णन करते हैं, प्रथम जो कहा उससे मानस पात कहा, उसकी देह गिरी, देहको धारण करनेवाली बुद्धि प्रयत्न द्वारा होती है, वह तो सुदुःख, भय और शोक इन तीनोंने नष्टकर दी. सुदुःख क्यों हुआ? जिसकेलिये कहते है कि, पुरुषोत्तमके लक्षणोंके विषयके अभावसे अर्थात् पुरुषोत्तमके स्वरूपके अज्ञानसे अथवा आनन्दरूप भगवानके तिरोधान हो जानेसे, भगवान् मुझे दूसरोंको देंगे इससे भय हुवा है. सर्वनाश होनेसे शोक उत्पन्न हुआ है. इस तरह तीन प्रकारके दोषोंसे बुद्धिका नाश हो रहा है, वह यह भी प्रकट करती है कि मैं अपनेलिये भी कुछ भी प्रयत्न नहीकर सकती है जिससे हाथसे कंकण तथा पंखा गिर रहा है. शरीरके कृश(पतला) होनेसे पहले कंकण गिरा, प्रथम धर्मका नाश होता है पीछे धर्मीका नाश होता है, क्रमसे नाश हुआ है इसलिये इस(देह)का पात अलौकिक प्रकारसे नहीं हुआ है, पंखा, पकड़नेवालेमेंसे प्रयत्नकी शक्तिका नाश होनेसे गिरा इससे यह बताया है कि पहले स्थूल प्रयत्न नाश हुआ जिस सूक्ष्म प्रयत्नसे प्राण धारण किया जाता है वह भी नष्ट हो जानेसे देहका भी नाश हुआ अर्थात् देह भी गिर गई, 'च' पद देनेका आशय यह है कि देहसे सम्बन्ध रखनेवाले आभरण भी गिर गये, अर्थात् पहने हुए आभूषण भी गिर गये, इससे भी सूक्ष्म प्राणोंको धारण करनेवाला, 'कारण' शेष रहता है, यदि वह भी निवृत्त होता तो सर्वनाश हो जाता, इसलिये भगवानने यहां तककी ही परीक्षा ली है. लौकिकीका फिर अलौकिक जीवन होवे यह उचित नहीं है, इसलिये उससे पूर्व ही उपाय करेंगे, सूक्ष्म धारण करनेवाली बुद्धि, स्वप्नमें भी रहती है, तो फिर देहका पात कैसे हुआ? इसके उत्तरमें कहते है कि वह सूक्ष्म बुद्धि भी घबराहटको प्राप्त हो गई थी और विचारसे भी उस घबराहटको दूर नहींकर सकती थी, क्योंकि अचानक अथवा विवश होनेसे मोहित वे(मूच्छित) हो गई थी, 'मुग्धेऽर्ध सम्पत्ति' मूर्छित होते पर आधी सम्पत्ति रहती है, इस न्यायके अनुसार 'अधमरी' हो गई, अब केवल 'आसन्यप्राण' रह गया था इस कारणसे पड़ गई, किन्तु मरी नहीं गिरनेसे भय उत्पन्न होता है, भयसे प्रयत्नकी अभिव्यक्ति(प्रकाश) होती है, वह क्यों न हुई?

जिसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे केलेका पेड़ वायुके झोकेसे टूटकर गिर पड़ता है वैसे यह भी गिर जानेसे सर्वथा प्रयत्न रहित हो गई तथा स्वतः भी कोमल हो गई अर्थात् सर्वथा अशक्त हो गई, जब गिरी तब मस्तकके केश भी बिखर गये जैसे केलेके पत्ते बिखर जाते हैं, अथवा मूर्छा आनेके समय शिर घूमने लगा जिससे केशोंकी गांठ खुल गई इससे केश बिखर गये, इससे यह जाना जाता है कि केश वेणीके प्रकारसे गूंथे हुवे नहीं थे, जिससे खुलकर बिखर गये।।२२-२४।।

तब भगवानने सोचा कि एकक्षण भी देरी करनेसे समाधान करना कठिन होगा, अतः उपेक्षा त्यागकर उसकी अपेक्षाका भाव आवश्यक जान शीघ्र ही प्रतिक्रिया करनेकेलिये प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'तद्दृष्ट्वा' श्लोकमें करते हैं.

तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्।
हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत।।२५।।

श्रीकृष्ण भगवान् हास्यकी गंभीरता न जाननेवाली अपनी प्यारीके इस प्रेम बन्धनको देख दयासे द्रवीभूत होते हुए कांप गये।।२५।।

उसका पतन देख, दयासे आर्द्रा चित्त हो गये जिससे कांप गये अतः उसके दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा की, अभिप्रायके अनुसार, जितना उसने आगे निरूपण किया उतना ही कहना चाहिये, अनन्तर रुक्मिणीको अभिमान नहीं है ऐसा जाननेसे भगवानको रुक्मिणी पर कृपा करनी चाहिये, यह जो बीचमें रुक्मिणीका पतन हुआ. उसका कारण भगवानके हास्यवचनोंका नहीं समझना ही है, ईश्वरके वाक्योंका क्या अभिप्राय है, वह जब तक स्वयं प्रकट न करें तब तक उसका दूसरा भाव कहना वा समझना नहीं चाहिये, इसलिये लौकिक होनेसे उस(रुक्मिणी)ने अभिप्राय न समझा जिससे उस(रुक्मिणी)को त्यागका भय हो गया त्यागके भयके कारण वैसी अवस्था होना, उचित ही है, मूर्च्छित होनेसे वाणी स्तब्ध हो गई थी, जिससे उत्तर न दे सकी, अभिमानके अभावका ज्ञान न होने पर भी भगवानने कृपा ही की, यों कृपा करनेमें कारण आप दयालु है, दया होनेमें भी कारण कहते हैं कि उसकी यह दशा देखकर आप भगवान् हैं जिससे सर्व प्रकारके अर्थोंके अभिप्रायोंको जानते ही हैं, कृष्ण होनेसे स्त्रियोंको प्रिय हैं स्त्रियोंके उद्धारकेलिये तो आये हैं, तब उनको मरने कैसे देंगे? यदि कहो कि बहुत ही वचनोंसे डरकर मूर्च्छित होती है, इसमें कौनसी अचम्भेकी बात है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'प्रियायाः प्रेम बन्धनम्' वह भी भक्त होनेसे भगवानकी प्यारी

है, सम्बन्ध न रहेगा, केवल इतना जानते ही प्राणोंको छोड़ने लगी यह इसके प्रेमकी विशेषता है. प्रेम ही बन्धन है, भगवानके प्रेमसे ही वह बन्धी हुई है, उसके अभावके ज्ञान होते ही, गिरी है, उसका यों होना उचित ही है, किस अंशसे सन्तुष्ट होगी? सन्तोषके हेतु आश्चर्यका अभाव है? इस शंकाके समाधान केलिये कहते हैं कि, हास्यरसमें पहले पूर्वपक्षका सिद्धान्त कहा जाता है जिसको 'प्रौढि' कहा जाता है. यह इस हास्यरसके प्रौढिको नहीं समझ सकी, कि भगवान् पूर्वपक्ष कह रहे हैं, क्यों न समझी? जिसका कारण रुक्मिणी लौकिकी नहीं है और न लौकिक विषयकी उसकी अपेक्षा है अतः अवश्य सिद्धान्त कहना चाहिये, वह सिद्धान्त कहना इसको नहीं आता है, कारणकि मुग्धभाववाली है इसलिये बालकोंकी तरह अभिमान दोषकेलिये नहीं है, यों मूर्च्छित होती देख स्वभावसे भी परम दयालु श्रीकृष्ण अनुकम्पा(कृपा) करने लगे।।२५।।

अनन्तर जो कुछ भगवानने किया वह कहते हैं

पर्यंकाद् अवरुह्याशु ताम् उत्थाप्य चतुर्भुजः।
केशान् समूह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना।।२६।।

चतुर्भुज आप शीघ्र ही पलंगसे नीचे उतर, उसको उठाकर उसके केशोंको संवार हस्तकमलसे मुखको पोंछने लगे।।२६।।

आप शीघ्र ही पलंगसे नीचे उतरकर, दो हाथोंसे उसको उठाकर, दो हाथोंसे केशोंको संवारने लगे. बादमें एक हाथसे केश बन्ध किया और जिस शीतल दक्षिण हाथसे अमृत बह रहा था उससे उसका मुख पोंछने लगे, यों करनेसे ताप मिट गया और जीवन हो गया, स्पर्श करनेसे ही प्राण आ गये।।२६।।

इसके बाद सावधान हुईको 'प्रमृज्य' श्लोकसे सान्तवना देने लगे.

प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा।
आश्लिष्य बाहुना राजन्नन्यविषयां सतीम्।।२७।।

हे राजन्! आंसूओंसे भरे हुए नेत्र, आंसूओंसे उपहत स्तनोंको पोंछकर अन्यके आश्रयरहित सतीका भुजासे आलिंगन किया।।२७।।

जहां-जहां आंसू थे अथवा जहां पर पड़े थे वहांसे आंसुओंको पोंछा, अनन्तर उठाकर दोनों भुजाओंके मध्यमें बिठाया और धागे(डोरे)से केशोंको बान्धने लगे, कही हुई क्रिया की, अतः सान्त्वना देने तक चतुर्भूजरूपसे ही बिराजे रहे. आंसूओंको दूरकर चारोंतरफ स्थित काजलको सर्वत्र स्थापित किया,

उसी तरह दूसरे स्थान पर भी स्नेहका प्रकाश(प्रकट) करनेकेलिये. त्याग नहीं करूंगा ऐसा विश्वास करानेकेलिये बाहूसे आलिंगन किया. भगवानने पहले जो कहा है कि हम स्त्री और अपत्यकी कामनावाले नहीं है, फिर यों क्यों किया? इस शंका निवृत्तिकेलिये कहते हैं कि इसको भगवानके सिवाय कोई विषय स्मरण नहीं है, यदि यह भी विषय न रहे तो शरीरका नाश हो जाय, इसके अतिरिक्त मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मेरेलिये लोक धर्मत्याग देते हैं उनका पालन मैं करता हूं. इसका यह त्याग देख अपनी प्रतिज्ञाके पालनार्थ यों किया, स्त्री है किन्तु स्त्रियोंमें जो कामभावना होती है वह इसमें नहीं है, क्योंकि भगवानमें ही इसका ध्यान है उसके सिवाय दूसरा विषय विचारमें भी नहीं है, कारणकि 'पतिव्रता' है, यदि उसकी उपेक्षा करे तो मर्यादाका भी विरोध हो, हे राजन्! यह सम्बोधन भ्रमके अभावकेलिये हैं, कारणकि जो राजा होता है उसको सब विषयोंका ज्ञान रहता है ।।२७।।

सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।
हास्यप्रौढि भ्रमच्चित्ता मतदर्हां सतां गतिः।।२८।।

सान्त्वना देनेमें दक्ष, 'सत्पुरुषोंकी गति प्रभु', हास्यरसके पूर्वपक्षके तत्त्वको न जाननेसे भ्रमित चित्तवाली, हास्य करनेके अयोग्य कृपण रुक्मिणीको कृपाकर सान्त्वना देने लगे।।२८।।

वाक्योंसे सान्त्वना देने लगे. स्वयं ही सम्बन्ध राहित्यका प्रतिपादनकर फिर स्वयं ही कैसे सान्त्वना कराने लगे? इस शंकाका समाधान करते हैं कि आप सान्त्वना कैसे देनी चाहिये इसको जानते हैं, सान्त्वना करानेका क्या कारण है? कृपा है, उसकी दशा देखकर डरसे सान्त्वना नहीं कराते हैं किन्तु उस पर कृपाकर प्यार करते हैं, भार्या है इसलिये कृपा नहीं करते किन्तु दीना है इसलिये कृपा करते हैं, दो धर्मोंके होते हुए दीनता कारण कैसे कहा जाता है? इस पर कहते हैं कि 'प्रभु' सर्वसमर्थ हैं, वे स्वतः समर्थ है इसलिये उनको भार्यादिकी अपेक्षा नहीं है, दूसरा हेतु सान्त्वनाकेलिये देते हैं कि हास्यरसकी प्रौढिके वाक्योंसे जिसका चित्त भ्रमित हो गया है, उस भ्रमको भी मिटना है, यद्यपि कायाकी सान्त्वनासे भी कार्य हो सकता है, तो भी चित्तका भ्रम भी मिटाना चाहिये, चित्तमें भ्रम रहनेसे क्या होगा? इसके समाधानकेलिये कहते है कि 'अतदर्हा' दो रूपोंसे रहनेके योग्य नहीं है हास्यको सहने जैसी नहीं है अतः शरीरसे कृपा और वाणीसे अकृपा करनेसे

शरीरमें स्वास्थ्य और चितमें अस्वास्थ्य रहे इस प्रकार दो रूपोंसे रहनेके योग्य नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्पुरुषोंकी शरण है, सत्पुरुष ही संदेहरहित होते हैं, उनको भगवानमें किसी प्रकार सन्देह नहीं रहता है, भगवानके वचनों पर विश्वास पर ही प्रवृत्त होते हैं 'द्विःशरं नाभिसन्धते द्विः स्थापयति नाश्रितात्' जैसे धनुषमें दो शर नहीं लगाए जाते है वैसे भगवान् आश्रितोंको दुविधामें नहीं डालते हैं, 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' हे अजुन! मेरी तरफसे तू प्रतिज्ञा जान ले कि मेरा(भगवानका) भक्त नष्ट न होता, अतः चित्त भ्रम मिटानेकेलिये वाणी सान्त्वना देनी हो चाहिये।।२८।।

उस सान्त्वनाको ही तीन श्लोकोंसे कहते हैं.

श्रीभगवानुवाच

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।

त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने।।२९।।

श्रीभगवान् कहने लगे कि हे रुक्मिणी! तू मेरे कहे हुए वचनोंमें दोषारोपण कर क्रोध मतकर, मैं जानता हूं कि तू मेरे परायण है. हे अंगना! तेरे वचन सुननेकी इच्छासे मैंने यह हंसी की है।।२९।।

काया, वाणी और मन ये तीन हैं इनमें पूर्व-पूर्व बलवाला है, इसलिये कायासे सान्त्वना करने पर फलरूप होनेसे, वाचिक दुर्बल होनेसे, सान्त्वना तो हो गई, परन्तु काया और वाणीका परस्पर विरोध होनेसे भगवान् विश्वास योग्य नहीं रहे, यों समझती हो तो इस तरह मत समझ, हे वैदर्भी! मुझ पर क्रोध न करो, अर्थात् मेरे कहनेसे मुझ पर दोषारोपण मत करो, अथवा यों कहकर तुमको इतना समय दुःख दिया, इसलिये कदाचित् रोष करती हो. दूसरा तो सहज ही है, उससे कुछ भी उपकार नहीं माना जाता है, तब इस प्रकार प्रवृत्तिके विरुद्ध वचन कहनेका क्या तात्पर्य है, यों कहती हो तो, जिसका उत्तर यह है कि मैं तुझे जानता हूं एकतरह जानकर दूसरी भांतिके वचन कहने, इसमें भी कुछ अभिप्राय होगा. यदि सर्वथा दोषरहित है तो यों भी दोष न मानेगी, फिर दोष निराकरणकी क्या आवश्यकता है तथा निराकरण करनेसे क्या लाभ होगा? इस कारणसे कहते हैं कि हे वैदर्भी! जिस देशमें तुमने जन्म लिया है देशकी भूमिके सम्बन्धसे कदाचित् यों भी भावना करें, यों नहीं तो भगवानने ऐसी चित्तवृत्ति की है. उसके दर्पका नाश एवं हासकेलिये ऐसे वचन कहना परस्पर विरोध नहीं है. शब्दकी वृत्ति तीन

प्रकारकी होती है, मुख्य, गौणी और तात्पर्यवाली, लक्षणा और गौणी इन दोनोंमें भेद नहीं है, दोनोंके तात्पर्यमें अन्तर्भाव है, वहां मुख्य अर्थका बाध दर्पके नाश करनेके पक्षमें है, हासके पक्षमें तुल्य है, उससे प्रासंगिक गौण है वह हासमें पर्यवसान पाता है, तात्पर्य दर्पके नाश करनेमें है, इसलिये दोनों विरुद्ध नहीं है. 'स्त्रिषुनर्मविवाहे' वाक्यके अनुसार मुख्य अर्थसे रहित शब्दका प्रयोग दोषकेलिये नहीं है नहीं तो तात्पर्य आदिकी व्यर्थता हो जाय और इस प्रकारका कार्य 'परोक्षवादाऋषयः परोक्षं च मम प्रियं' इस भगवद्वाक्यके अनुसार है. पूर्वपक्षके न्यायके अनुसार, उसमे बहिर्मुखत्व और लौकिकत्वका आरोपणकर ये वाक्य कहे हैं, भगवान् सान्त्वनाकेलिये प्रासंगिक फलोंका निर्देश करते है, मुख्यार्थ[१] विवक्षित नहीं है, कारणकि 'जानेत्वामत्परायण' मैं जानता हूं कि तू मेरे परायण है. जब यों जानते हैं तो इस प्रकार क्यों कहा? इसके उत्तरमें कहते है कि परिहाससे ही वचन कहे हैं. यों परिहास करनेमें कोई दोष नहीं है. हे अंगने! अंगकी प्राप्तिकेलिये प्रार्थना इस प्रकार रसलीलामें की जाती है, जिससे मिलनेकी इच्छा होती है, वैसीके साथ रसकी उत्पत्तिकेलिये यों कहना ही चाहिये, परिहाससे वह जानना कि रुक्मिणी मेरे परायण है या नहीं. यह प्रासंगिक है, वह उस समय न था तो भी परिहास करनेमें दोष नहीं है, आगे तो होगा. भगवदीय होनेसे स्वल्प भी गर्व ढूंढना ही चाहिये अथवा होना चाहिये, नहीं तो ज्ञानमार्गसे इसमार्गमें कौनसी विशेषता दिखाई जायेगी, परन्तु वह सीमारहित नहीं होना चाहिये, उसके निराकरण कार्यमें वक्ता ईश्वर हैं इसलिये सर्व ही निवृत्त हुआ, उसके आधार प्राण भी, उसको अभिप्रेत नहीं हैं, इसलिये फिर उत्पन्न[२] हुवे कहते हैं 'जानेत्वां' किन्तु मैं ही प्यारी हूं यों न समझना, यही कहनेका भाव है, परिहास करनेका कारण कहते हैं, तुम्हारे मनके गूढ़भाव प्रकट करनेवाले वचनोंके सुननेकी इच्छा थी।।२९।।

१.त्याग करना, यह कहनेका तात्पर्य नहीं है. २.भगवानका ज्ञान सिद्ध विषय होनेसे, ज्ञानसे प्राण फिर उत्पन्न हुए, प्राणोंके बिना भगवत्परायणत्व सिद्ध नहीं होता है.

दूसरा प्रयोजन 'मुखं च' श्लोकसे कहते हैं.

मुखं च प्रेमसंरम्भ स्फुरिताधरमीक्षितुम्।
कटाक्षेपारुणापाङ्ग सुन्दरभ्रुकुटीतटम्।।३०।।

प्रेम प्रकोपसे स्फुरित अधरवाले कटाक्ष चलानेसे अरुण अपांगवाले और

सुन्दर तथा टेढ़ी भ्रकुटीवाले तेरे मुखको देखनेकेलिए ये परिहास वचन कहे हैं।।३०।।

कुपित मुखको देखनेकेलिये ये वचन मैंने कहे हैं, अपशब्द गालियां देने पर लोक कुपित होते हैं, वैसे तू भी कोप करेगी इसलिये कुपित करनेकेलिये ये वचन कहे. प्रेमरस तीन तरहका होता है सात्विक, राजस और तामस. उनमें पुत्रादि साधारण सम्बन्धसे जो प्रेमरस प्राप्त होता है वह सात्विक है, धर्मसहित स्त्रीमेंसे जो प्रेमरस मिलता है वह राजस है, जारसे जो प्रेमरसका अनुभव होता है वह तामस है, सहज वह भाव किसी समय यहां देखना चाहिये, इसलिये उस क्रोधयुक्त मुखको देखनेकेलिये कोप प्रकट करानेकेलिये ये वचन कहे है. मेरे प्रेमवचनसे उत्पन्न क्रोधसे अधर फरकने लगे हैं जिस मुखमें टेडी दृष्टी सहित लाल अपांग जिस मुखके हो गये हैं, सुन्दर भ्रकुटीके किनारे जिसके हुवे हैं, ऐसे मुखको देखनेकेलिये परिहास वचन कहे जब क्रोध उत्पन्न होता है तब ही तामस रसालमुख इस प्रकारका होता है, और दृष्टि भी सात्विकी रसीली तब ही होती है, तथा तब ही भ्रूभंग भी रसाल होता है।।३०।।

केवल श्रवण आदिसे वाणी और कायाका इस प्रकार होना कैसे होता है यदि यों कहें तो इसका उत्तर 'अयं' श्लोकमें देते हैं.

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
यद् नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि।।३१।।

हे भीरु भामिनी! गृहस्थियोंके घरोंमें यही तो परम लाभ है कि जो प्रियाके साथ हंसीके वचनोंसे समय व्यतीत हो।।३१।।

गृहस्थियोंके कामप्रधान घरोंमें यही परम लाभ है, जिसका शास्त्रमें निषेध नहीं है ऐसा पूर्णरस प्राप्त किया जाता है. अतः जहां रसाभास ही हो वहां यदि रस प्राप्त किया जाय तो, वह क्यों न परम लाभ कहा जावे, 'गृहस्थी' शब्द कहकर स्वभावसे रसाभास सिद्ध किया है, परिहासके वचनोंसे एकप्रहर व्यतीत किया जा सकता है, रात्रीके तीन प्रहर माने गये हैं, उनमेंसे दो प्रहर तो नींदमें जाते हैं, शेष एक प्रहर रहता है, जो प्यारीके साथ रहा जाता है, प्रीति तो अन्दरकी वस्तु है, कायिक रस साधारण है, शेष वाचिक रस न लिया जावे तो रसका एक अंग टूट जावे, इसलिये परिहास कहना वा करना ही चाहिये, परिहास करनेसे यदि रसका अभाव हो जावे तो प्रेम भी नष्ट हो जावेगा? जिसका समाधान करते हुए

कहते हैं कि हे भीरु! **'विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचनाः'** शास्त्रोंमें स्त्रियोंके विशेषण कहे हैं कि जो स्त्री अंगना है वह भीरु कही जाती है और वाम लोचनवाली कामिनी है. अतः परिहाससे रसका अभाव उनमें नहीं हो सकता है जिसमें लौकिक चतुराई है वह भामिनी कही जाती है, इससे स्वभावसे गुणसे जो उत्तम है, वह अन्य प्रकार न करेंगी।।३१।।

बादमें स्वस्थ होकर, भगवानको जो इच्छित था वह करने लगी जिसका वर्णन 'सैवं'से दो श्लोकोंमें करते हैं.

श्रीशुक उवाच

सैवं भगवता राजन्वैदर्भी परिसान्त्विता।
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ।।३२।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! श्रीकृष्ण भगवानने इस प्रकार रुक्मिणीको सान्त्वना दी, जिससे समझ गई कि ये वचन भगवानने परिहाससे कहे हैं, अतः 'प्यारे मुझे त्याग देंगे', यह भय छोड़ दिया।।३२।।

प्रथम उसके स्वास्थका वर्णन करते हैं कि वह पहले जैसी कही गई थी वैसे ही अब भी थी, पूर्वके वचन और अबके वचन दोनों भगवानके ही है, इस वाक्यमें विश्वास कैसे किया? पूर्व और उत्तर भाव तो यहां प्रयोजक नहीं है जैसे पहलेमें हेतु कहा वैसे यहां भी मरण अभिप्रेत नहीं है, यह हेतु क्यों न माना जाय? उसमें बिना संशय प्रवृत्ति कैसे करने लगी? इसका समाधान करते हैं कि कहनेवाले भगवान् हैं, वे सर्वसमर्थ जैसा चाहे वैसा करा सकते हैं, राजन्! यह सम्बोधन पूर्वकी भांति विश्वासकेलिये ही है, वैदर्भी(रुक्मिणी) स्वभावसे भक्तिकी प्रधानतावाली, राजसी है, काया, वाणी और मन यों सब तरहसे सान्त्वना करा दी, जो बाधक विरुद्ध वाक्य समझे थे, अब उनको परिहास समझ, उदासीपनमें चिन्तारहित हो एवं अलौकिकी जो बाधा स्फुरित हुई थी, उसका त्यागकर देगी. अभिप्राय जानने पर प्यारे मुझे छोड देंगे यह भाव त्याग दिया. यदि यह भय न छूट गया हो तो शेष अभिमान न रहता. उसने समझा कि यह परिहास ही था न कि इसमें अहंकार वा आश्चर्यके अभावकी अर्थता थी. इस कारणसे ही सचमुच जो प्रियत्यागका भय था, उसको त्याग दिया।।३२।।

पश्चात् स्वस्थ हुई, वैदर्भी भगवानको इच्छित 'बभाषे' श्लोकसे कुछ कहने लगी.

बभाषे ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम्।
सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत।।३३।।

हे भारत! लज्जासहित हास्यसे सुन्दर, स्नेह भरे कटाक्षसे, पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगवानके मुखारविन्दका अवलोकन करती हुई कहने लगी।।३३।।

पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्थात् पुरुषोत्तमको, इससे यह बताया कि भगवान् स्त्रीपति नहीं है. यों कहनेसे भगवानमें स्त्रीबुद्धिका कापट्य और स्त्रीकी आधीनताका निवारण किया, इस प्रकार जानकर ही वह सत्य कहती है, न कि वह भी एकप्रकार जानकर दूसरे प्रकारसे कहती है. यदि यों होवे तो दूसरे अभिप्रायकी कल्पना करनेमें स्थिरता न रहे 'वीक्षन्ती भगवन्मुखम्' भगवानके मुखका अवलोकन करती हुई. (कहने लगी) दृष्टिसे ही परम सन्तोष हुआ, इससे जो अर्थ कहनेका है, उसकी भी स्फूर्ति निरूपण की है, भीतर रहे हुए तीन भावोंको प्रकट करती हुई कहने लगी, लज्जा करने लगी, वह स्वाभाविकी सात्विकी थी, हास किया वह शृंगाररस प्रधान राजस था, सुन्दर, स्नेहभरित कटाक्ष, तीन गुणोंसे युक्त था. इस प्रकार देखती थी जिससे अपने भीतर स्थित भावोंके प्रकट करनेका निरूपण किया, इस कारणसे, चित्तको ये ही आकर्षण करते हैं, ये वचन पोषण करनेवाले होते हैं, न कि अन्य अर्थकी कल्पनासे कभी भी विरुद्ध होते हैं, यह भाव है।।३३।।

'नन्वेवं' श्लोकसे १५श्लोकों द्वारा रुक्मिणीके वचन कहते हैं.

रुक्मिण्युवाच

नन्वेवम् एतद् अरविन्दविलोचनाह यद्वै भवान् न भवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा।।३४।।

रुक्मिणी कहने लगी–हे कमलनेत्र! आपने जो कहा कि हम आपके समान नहीं हैं, यह सत्य है; क्योंकि अपने ही स्वरूपानन्दमें मग्न रहनेवाले तथा ब्रह्मादिके स्वामी, आप कहां और पामर तथा अज्ञानी, जिसकी सेवा करते हैं, ऐसी मैं जो त्रिगुणात्मक लक्ष्मीरूप हूं, वह कहां?।।३४।।

ये कलाएं ही तीन प्रकार और पंच प्रकारके कामरसको जगाती हैं भगवानने उसके वचनोंको सुननेकेलिये सूत्ररूप वाक्य कैसे कहे? इस आकांक्षामें बहिरंग प्रकारका त्यागकर, अन्तरंग प्रकारसे ही उन वाक्योंके व्याख्यारूप वाक्य सुनेंगे, यों विचारकर ही वह वाक्य प्रकट किये हैं, यदि यों न होता तो जिसका

निषेध नहीं किया गया हो, वह माना हुआ समझा जाता है यों विरोध प्रकृत समझा जाये, ईश्वरके वाक्यको अथवा बाधितार्थको अतः दोषोंके निराकरणकेलिये प्रवृत्त भगवान् उसमें इसप्रकार दोषका सम्पादन नहीं करें, अतः भगवानका यह ही अभिप्राय है कि यह अपने वाक्योंको स्पष्ट वर्णन करे वहां जो भगवानने ये शब्द कहे कि 'कास्मान्नो ववृषेऽसमान्' इस वाक्यके हीनत्व और उत्तमत्वसे, दो अर्थ हो सकते हैं, उन दोनों अर्थोंमेंसे उत्तम अर्थ करनेसे ही वह पद सार्थक होता है, इसलिये कहा, निश्चय(नन्वेवमेतत्) यह इस प्रकार ही है 'असमान्' इतना पद छोड़कर, पहले दो श्लोक अर्थसे अंगीकार किये हैं. इसलिये उनके बाधकेलिये कुछ नहीं कहा जाता है, प्रयोजन तो आगे कहना चाहिये, दोष तो प्रथम मिटाया जाता है उस दोषरूप शब्दको भी स्वरूपसे अंगीकार किया है. हे अरविन्द लोचन! हे कमल समान नेत्रवाले! जो निश्चयसे आपने कहा है, ननु इस प्रकारके कोमल सम्बोधन कहनेसे, यदि अर्थसे विचार किया जावे तो प्रतीतिमें वह पूर्वपक्ष ही यों जनाता है, क्योंकि आदिमें ही 'ननु' पद कहनेसे, सब ही वाक्य जो सुने हैं ये पूर्वपक्षके ही कहे हैं यो जचता है, इस प्रकार वे यों ही है अर्थात् स्वार्थ पर है यह तात्पर्य है, इस प्रकार कहनेका तात्पर्य यह है कि जो दृष्टिसे ही तापहारक है वे वाक्योंसे ताप कैसे पैदा करेंगे, इसलिये विरुद्ध अर्थका त्याग करना ही चाहिये, यह सूचित किया है, निश्चयसे, एकदेशसे भी बाध नहीं करता है, 'असमान' इसका यह व्याख्यान है, आपके समान नहीं हूं, अथवा जिनके समान नहीं दीखते हैं, इस प्रकार दो अर्थ होने पर भी प्रथम अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये, भगवन्निरूपित साम्य दूसरे स्थान पर नहीं होता है, भगवान् तो सर्वसम है, 'समःप्लुषिणे', इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है. जैसे आकाश सबके समान हो जाता है किन्तु अन्य कोई भी आकाशके समान नहीं हो सकता है, अतः मैं आपके समान हो नहीं सकती, जिसमें कारण 'विभूम्न' पद दिया है, आप विभूमा है, अर्थात् आपका बाहुल्य विलक्षण है, अथवा जिससे विलक्षण बाहुल्य प्रकट हुवा है, चारोंतरफ विलक्षणता जिसकी फैली हुई है, आपके सिवाय अन्यमें बाहुल्यके न होनेसे असमानता सिद्ध ही है, भगवानका व्यापकपन श्रुतियोंसे सिद्ध ही है, गुणोंका वा मायाका व्यापकत्व वैसा सिद्ध नहीं है, यह सर्वजनीन होनेसे यह हेतु उचित ही दिया है. फिर शंका की जाती है कि यों है तो भी भगवान् तुझमें ही रमण करते हैं, उस(भगवान)में भी रतिको पैदा करनेवाली तू ही महती वा समान होनी चाहिये?

इस शंकाका समाधान करती है कि 'स्वे महिन्नि' भगवान् सदा अपनेमें ही रमण करते हैं पूर्णरमण तो वहां ही है, किसी अंशसे कदाचित् ही कार्यमें रमण करते हैं, इस कारणसे ही उसके कार्य घट आदि भी कभी ही उनमें व्यापारवाले होते हैं, न कि हमेशा अपने पूर्ण आनन्दमें तो सर्वदा पूर्ण रमण है, तब घट आदिको यों व्यापारवाले कैसे वा क्यों करते हैं? इस पर कहती है कि यह [१]सृष्टिरूपा माया है न कि मुख्या ब्रह्मानन्दरूपा लक्ष्मी है, उसका ही अंशरूप माया है, इसलिये कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भगवान् हैं, समान जैसा ही! उसमें भी कौनसी विशेषता होगी? यदि यों कहो तो, वहां कहती है कि भगवान् तीन गुणोंके तथा उनके कार्योंके भी स्वामी हैं जिनके ईश्वर हैं उनसे ईश्वर रमण नहीं करते हैं, तो तू भी भगवानमें वा अपनेमें रमण करती हैं, अतः समानता मानना ही उचित है, यदि यों कहो तो उत्तर देती है, 'क्वाहं गुणप्रकृति'में गुणोंकी प्रकृतिवाली कहां? और परमानन्द स्वरूप भगवान् कहां? जैसे एक मृतिकासे खेलता है और दूसरा सुवर्णसे, अतः स्वरूप रमण भी मेरा बिना प्रयोजनवाला है. भगवानमें मेरा रमण भी परिच्छिन्न होनेसे क्वचित् एकदेशसे ही होता है जो परिच्छिन्न है वह सर्वथा व्याप्त होनेके योग्य नहीं होता है, किञ्च कार्य द्वारा भी मेरा हीनत्व ही है, क्योंकि मेरे सेवक बहुत हैं, किन्तु मूर्ख हैं कारणकि संसाररूप मुझ मायाकी चाहनावाले है बहुत मूर्ख आश्रय करें उनसे महत्व नहीं होता है, किन्तु थोड़े भी सुज्ञ आश्रय करें तो महत्व बढ़ता है, जैसे बहुत मक्खियां किसी गन्दे पदार्थका आश्रय करें तो वह उत्तम नहीं हो जाता है, किन्तु एक ही उत्तम किसी साधारणका आश्रय करे तो वह उत्तम हो जाता है जैसे भगवान् गरुड़का आश्रय करते हैं, तो गरुड़का महत्व हो गया है भगवच्चरणारविन्दके ग्रहण करनेसे दोषोंका अभाव भी कहा है, इससे यह बताया है कि दूसरे मेरे सेवक ही हैं, इसलिये मेरे समान नही हो गये हैं, इससे दूसरोंकी समानता मानकर जो भगवानने कहा था, उसका भी निवारण कर दिया है।।३४।।

१.इन वाक्योंको कहनेवाली, सृष्टिका निरूपण करनेवाली आनन्द शक्तिरूपा माया है.

इस प्रकार असम पदकी व्याख्याकर, अब 'राजभ्यो बिभ्यत' इस आधे श्लोकसे जो भय निरूपण किया, वह भी वैसे ही हैं यों 'सत्यं' श्लोकसे वर्णन करती है.

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम्।।३५।।

हे उरुक्रम! आपने कहा कि राजाओंसे डरकर मैंने चिद्रूप समुद्रके भीतर शरण ली है, वह भी सत्य है, आपने कहा कि हमने बलवानोंसे शत्रुता की है, वह भी सत्य है, राज्यासन छोड़ा है, वह भी सत्य है; क्योंकि विषयासक्त बलवान् इन्द्रियोंसे आप वैर रखते ही हैं, पापमूल जो अज्ञानरूप राज्यासन तुम्हारे सेवक ही जब छोड़ बैठे हैं तो आपने छोड़ा इसमें क्या आश्चर्य है?।।३५।।

राजालोग रजोगुणके धर्मवाले होनेसे राजस होते हैं, वे सदैव प्रवृत्ति करनेके स्वभावोंवाले रहते हैं, उन स्वभावोंके रहते हुए कभी भी आत्मसुखकी स्फूर्ति नहीं होती है, जिसमें सर्व प्रकारकी इच्छाओंका शमन हो, ऐसा आत्माका स्वरूप हो जावे वह सुख है, अतः रजो और तमोगुण जिनमें प्रधान हैं, उन गुणोंका परित्यागकर जहां गुणोंका प्रवेश नहीं होता है, वैसे मुद्रा सहित केवल चिद्रूपमें आप स्थिति करते हैं, जो मायाको मिटावे, वह ज्ञान है, उसमें भी जैसे अन्दर दूरसे कोई भी नहीं देखता है, वैसे आत्मा लीन हो तथा सूक्ष्म एवं व्यापक तद्रूप हो, व्याप्त होता है, यों जतानेकेलिए भी 'आत्मा' पद दिया है. वे तो न कुछ करनेवाले हैं, इसलिए 'भयादिव' पद कहा है, उसमें कारण 'उरुक्रम' कहा, जैसे सुना है, वैसे आगे निराकरण करेंगे. इससे यहां द्वारकामें भी आत्मरमणकेलिए स्थिति की है, इसलिए उन गुणरूपोंसे भागकर यहां पाना योग्य ही है, यों समर्थन किया है. यह जो कहा मैंने बलवानोंसे द्वैष किया है वह भी सत्य है, बहिर्मुख सब इन्द्रियोंके गुण कुत्सित एवं बलवान है, वास्तवमें दुर्बल हैं, क्योंकि वे गुण इन्द्रियोंके आधीन हैं, वे दुष्ट कौओंके समान छूते हैं, अतः उनका दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए, कदाचित् वे वैदिक प्रकारसे यज्ञ करें, तो भी उनका दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि 'न द्विषतोऽन्नमश्नीयात्' शत्रुका अन्न नहीं खाना चाहिए, उसका दिया भाग काममें न लानेमें कोई दोष नहीं है, इसलिए उनके साथ आप हमेशा कलह करते हैं. यह ही दैत्योंसे नित्यविरोध करनेमें कारण है. आपने राज्यासन प्रायः छोड़ दिया है, इस पर कहती है कि आपके सेवकोंने ही इस राज्यासनको अज्ञानान्धरूप कह त्याग दिया है. इससे समझा जाता है कि राजाओंका सिंहासन अधम है. उसे उत्कृष्ट समझ उसको ग्रहणकर अनन्तर आपकी सेवाके रसका अनुभवकर बादमें उसका त्याग करना योग्य नहीं लगता है, अतः आपकी चरणारविन्दकी सेवासे यह राज्यासन अधम है, यह सिद्ध हुआ. इस कारणसे अधम स्थानमें भगवान् नहीं

ठहरते हैं, यह योग्य ही है, जहां भगवानके धर्म ही नहीं ठहरते हैं, वहां भगवान् स्वयं कैसे ठहरेंगे? जहां कमलोंके गन्धकी सम्भावना भी नहीं है, वहां कमलोंकी स्थिति कैसे होगी? उसमें दोष हैं, वह स्पष्ट कहते हैं कि 'तमोऽन्धम्' वहां रहनेवाला अन्धा होता है, तमकी तरह वह सत्का विरोधी होता है. 'प्रायः' पद लौकिक दृष्टिसे अपेक्षित था, इसलिए उसका निराकरण नहीं किया है।।३५।।

जिस कार्यमें कारणदोषका अंगीकारकर प्रवृत्तिमें दो दोष 'शुद्ध राहमें न चलना और लोकपथसे विपरीत पथ पर चलना' दिखाया, वह भी सत्य है. इसका उत्तर 'त्वत्पाद पद्म' श्लोकसे देती हैं.

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम्।।३६।।

आपने कहा हमारा मार्ग जाननेमें नहीं आता है, यह भी सत्य ही है, क्योंकि आपके चरणकमलके मकरन्दका सेवन करनेवाले मुनियोंका आचरण भी पशुतुल्य मनुष्योंको समझमें नहीं आता है तो आपका आचरण कैसे समझमें आ सकेगा? आपका मार्ग लोकसे विलक्षण है, यह भी सत्य है, कारणकि जो लोक आपका अनुसरण करते हैं, उनका मार्ग भी लोगोंसे पृथक् है तो आप ईश्वरका मार्ग निराला अलौकिक हो, जिसमें कहना ही क्या है।।३६।।

'सीदन्ति' इसके फलका तो आगे विवेचन करना है, आपका मार्ग स्पष्ट नहीं है, यों सत्य है. जिनकी देह आपके चरणरजसे बनी है अथवा जो आपके चरणरजके अभिलाषावाले हैं, वे आपकी उपासना करते हैं, उनका भी मार्ग प्रकट नहीं है, प्रकट होवे तो प्रतिबन्धोंके होनेसे मनन सिद्ध नहीं हो सकती है. जिस तरह भगवान् कालको ठगकर प्यारे भक्तोंको ले जावेंगे. इसी तरह वे भी गुप्त विचरण करते हैं, इसलिए आपके उपासककर्मी भी छुपे रहते हैं, सुतरां चरणके उपासक ज्ञानी एवं पादपद्मोंके उपासक भक्त भी गुप्त ही घूमते रहते हैं, इनमें भी जो भक्तिके रसको जानते हैं और उसके मकरन्दके सेवन करनेवाले हैं, वे तो इस विचारसे गुप्त होकर विचरण करते हैं कि उस रसको अन्य कोई ले न जावे, अतः बाहर अन्य प्रकारके आचरणसे उनका मार्ग भी प्रकाशित नहीं है, यह भक्तिरसमार्ग ऐसा ही है. इसलिए यदि वह मार्ग छुपा हो तो कोई दोष नहीं है, बल्कि गुणकेलिए ही है, अपने-अपने अधिकारमें जो स्थिति है, वह गुण है, इससे विपरीत होवे तो दोष है, इस वाक्यके अनुसार दोनोंका यही निश्चय है. यदि

कहो कि तो भी लोकमें तो यह दूषण प्रसिद्ध ही है, जिसके उत्तरमें कहती हैं कि जो बिना शृंग सींग और पूंछके मनुष्यके प्रकारवाले पशु हैं, वे वैसे उत्कृष्ट मार्गको नहीं जान सकते हैं. यदि वे भी समझ सकें तो उसकी उत्कृष्टता चली जावे, इसलिए जो श्रेष्ठ उत्तमजन हैं, वे यहां भी जानते ही हैं, यदि यों नहीं हो तो उनके सेवक कैसे बने? अथवा यों किस प्रकार कर सकें? इसलिए नर-पशुओंको ही यह जानना कठिन है. 'ननु' यों युक्त हैं. इस अर्थमें सम्बोधन है, वे भी यदि विवेकी हैं तो आगे जानेंगे, प्रथम पूर्वपक्ष भी जानना कठिन है. 'अलोकपथम् ईयुषां' यह लोकसे विलक्षणता दोष भी लोकमें प्रसिद्ध है, उसका परिहार करती है कि 'यस्मादलौकिकमिव' भगवान् और उनके धर्म अलौकिक हैं ही, यदि न होते तो भगवानको लोकमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अथवा भगवन्मार्गका भी कोई कार्य न होनेसे आवश्यकता नहीं है. संसार, दूसरे प्रकारसे ही सिद्ध होनेसे उसका निवारक तो अलौकिक ही है. किञ्च लोकमें साधारण महापुरुषकी कार्यमें भी विलक्षणता देखनेमें आती है, वह दोषकेलिए नहीं होती है, वैसे ही भगवानका कार्य भी अलौकिक है, जिसमें किसी प्रकारका दोष नहीं, यदि यों ईश्वरका कार्य विलक्षण होगा तो लोक सहायक न हो सकेंगे. इसके उत्तरमें कहती है कि आप 'भूमन्' है, आप ही महान् है. तुच्छोंको सहायतासे क्या? और विशेष कहती हैं कि आपके कार्य सर्वथा अलौकिक नहीं है, किन्तु अतिमूढ़ोंको ही वे जाननेमें नहीं आते हैं, यों न होवे तो भगवानके सेवक और मार्गकी परम्परा देखनेमें न आवे इस आशयसे कहते हैं कि 'अथो अनु ये भवन्तं' भगवानके कार्य तो शास्त्रोंमें उनके भाव वर्णनसे जाने जा सकते हैं. भगवदीयोंका तो सुतरां ही अभिप्राय नहीं जाना जा सकता है, यों यह अलग प्रक्रम(सिलसिला) है, इससे अलौकिकमें भी बहुत प्रकार है, इसलिए लोककी भांति वे भी प्रसिद्ध है. इस कारणसे लौकिकमें जितने गुण है, उनसे भी विशेष अलौकिकमें है इसलिए यह दूषण नहीं है, किन्तु गुण ही है साधन निर्दोष हुआ तो कार्यका सदोष होना स्वतः मिट ही गया, तो भी उसका आगे परिहार होगा।।३६।।

जो भी अभजनकी सम्मतिकेलिए अपनेसे व परसे धनके अभावका दूषण दिया है, जिसका भी अन्य प्रकारके भावको प्रकट करती है.

निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चिद्
यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।

न त्वां विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः

प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ।।३७।।

आपने कहा मैं निष्किञ्चन हूं, वह भी सत्य है; क्योंकि जो कुछ है, वह आपसे निकला है, आपसे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, इसलिए आप निष्किञ्चन हो ही. इस पदका दूसरा अर्थ जो दरिद्रता होता है, वह बन नहीं सकता है कारणकि दूसरोंसे बलि लेनेवाले ब्रह्मा आदि देव भी आपको बलि देते हैं, तो आप निष्किञ्चन (दरिद्री) कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं और आपने कहा मुझे निष्किञ्चनजन प्यारे हैं, मैं उनको प्यारा हूं, यह भी यथार्थ है, जिनको देह आदिमें अभिमान नहीं है, वैसे अजादि आपको प्यारे हैं, उनको आप प्यारे हैं और आपने कहा कि समृद्धिवाले मुझे नहीं भजते हैं, वह भी सत्य है, वे धनान्ध तो धनके अभिमानी आप कालरूपको नहीं जानते हैं, जिससे वे धनसे इन्द्रियोंको ही तृप्त करनेमें सलग्न होनेसे आपका भजन नहीं करते हैं।।३७।।

यहां 'निष्किञ्चन' पद यौगिक है, न कि 'निर्धन' अर्थवाला रुढ़ि, यौगिक अर्थ कहते हैं कि 'न यतोऽस्ति किञ्चित्' निश्चयसे ही आप निष्किञ्चन हैं जिसका कुछ नहीं है परन्तु सर्व ही है, जिससे भिन्न कुछ नहीं है, उसका तात्पर्य है कि अन्य वस्तु न होनेसे उनका कुछ नही और सर्व आप हैं भिन्न कुछ नहीं है इसलिये सर्व आप ही है, या आपका ही है, जब ज्ञानका उदय होता है उस समयमें भगवानसे सर्व जो कुछ भी है वह अल्प ही दीखता है, यह 'ननु' पद कहनेका भाव है, अथवा 'निष्किञ्चन' पदमें 'निर्' उपसर्ग निकलनेके अर्थमें है जिससे इस पदका अर्थ होता है कि जो कुछ है वह सर्व भगवानसे ही निकला है, 'नयतः' पद देकर अर्थ करते हैं कि जो कुछ है वह सब भगवानके पाससे ही प्रकटा है, 'ननु' शंका होती है कि रूढ़िको छोड़कर योगार्थ क्यों लेती हो, जिसके उत्तरमें कहती है कि, जिसको बलि लेनेवाले भी बलि देते हैं, बाधित अर्थ हो तो स्वीकार नहीं किया जाता है, जैसे प्रकरणवश जब युद्धके समय कोई कहे कि 'सैन्धव ले आओ' तो वहां 'सैन्धव'का अर्थ अश्व किया जावेगा न कि नमक और घोड़ा ही लाया जायगा, वैसे ही यहां भी, सब जिनकी उपासना करते हैं, ऐसे बलि लेनेवाले इन्द्र आदि भी जिनको बलि देते हैं, ब्रह्माने चरणोंको धोया, यह कथा प्रसिद्ध ही है, जिससे उसने भी बलि दी, अज आदि कहनेसे सबका चरण सेवकत्व बना दिया, यों कहकर स्वतः धनका अभाव है यह पक्ष मिटा दिया, अर्थात् आप दरिद्र नहीं है

पदसे धनाभावके पक्षमें सिद्धान्त कहती है, 'न त्वां विदन्ति' जानकर ही भजन किया जाता है, शंका होती है कि अज्ञान भी दोष[१] प्रतिपादक है यदि यों कहा जाय तो सत्य है जिसका उत्तर यह है कि यदि प्रतिबन्ध न होने पर भी अज्ञान रहे तो वह अज्ञान, दोष प्रतिपादक है, यहां तो आपके अज्ञानमें 'असृतृपः' हेतु है, जो प्राणोंका ही पोषणकर रहे हैं, वे आपको नहीं जानते हैं, जाननेकेलिये प्रयत्न करनेका उनको अवकाश नहीं है, प्राणोंसे इस ज्ञानके प्रयत्न करनेको कम समझते है, जिससे अनावश्यक जानते हैं प्राणोंकी रक्षा आवश्यक जानते हैं, इसलिये अज्ञान हो तो कोई दोष[२] नहीं यदि यों है तो इसका उत्तर देती है कि 'अन्तकं' वह भगवान् ही सब संहार करनेवाले हैं, अतः सबको उसके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये अतः अज्ञान दोष है, 'अज्ञान' बहिर्मुख होनेसे ही होता है, दूसरा हेतु देते हैं, कि धनके अभिमानसे अन्धे हो गये हैं, द्रव्य आदिके अहंकारसे आंखे बन्द हो जानेसे कोई देख नहीं सकता है यदि अभिमान सर्वत्र फैल जाता हैं तो वे निरन्तर सदैव अन्धे ही हो जाते हैं, गुण परिमित है न कि धन अपरिमित है अजीर्ण हुए अन्नकी तरह है, अतः ज्ञानके अभावसे, परतः धनका अभाव उचित ही है, धन अन्यत्व करनेवाला नहीं होता है, आपने जो कहा है कि निष्किञ्चनजन ही मुझे प्यारे है न कि धनी-अभिमानी प्यारे हैं. यों अपनी रुचिके अनुसार निरूपण किया है, यह आपका कहना भी उचित है, क्योंकि बलि लेनेवालें, विरक्त और देवोंके पुरुषार्थोंके साधक होनेसे आप उनको प्रिय हैं 'अपि' शब्दसे दोनों लिये हैं, एक उपरोक्त और दूसरे उनके अनुगामी, वे भी आपकेलिये उत्पन्न होनेसे आपको प्यारे हैं, जो जिसकेलिये उत्पन्न होता है, वह तो उसको ही प्यारा लगता है, यहां 'अर्थ' शब्द निवृत्तिवाला नहीं है, अतः परस्पर प्रिय होनेसे निष्किञ्चन जन ही प्यारे होते हैं न कि धनवान प्रिय होते हैं, क्योंकि उनको पुरुषार्थकी कुछ अपेक्षा नहीं है, और तदर्थ न होनेसे, इससे 'तस्मात्प्रायेण नह्यढ्या' इस श्लोकसे यह सिद्धकर बताया कि धनिक अभिमानी भजन नहीं करते हैं, यह समर्थनकर बताया।।३७।।

१.पुस्तकमें 'दोषाभाव प्रतिपादकम्' छपा है और नीचे फुटनोटमें 'दोषप्रतिपादकम्' छपा है. २.पुस्तकमें 'प्रदोषाय' और फुटनोटमें 'दोषाय' छपा है.

यह जो भगवानने कहा कि जिनकी धनादिसे समानता हो उनका परस्पर विवाह होना चाहिये, इस विषयमें 'त्वं वै' श्लोकसे निर्णय कहती है.

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्यम्।

तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न।।३८।।

आप(भगवान)ने कहा कि धनादिसे असमानोंमें परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए, यह भी सत्य है, क्योंकि आप पुरुषार्थरूप और फलात्मा हैं, ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग आपकी इच्छासे अन्य सर्व कृत्य छोड़ देते हैं. हे प्रभो! उनका आपसे सम्बन्ध होना उचित ही है, परन्तु सुख-दुःखसे व्याप्त और परस्पर प्यारकी ग्रन्थि बान्धे हुए पामर स्त्री-पुरुषोंसे आपका सम्बन्ध होना योग्य नहीं है।।३८।।

भगवान् तो पुरुषार्थरूप ही हैं, यदि धर्म आदि पुरुषार्थ होवे तो स्त्री-पुरुषसे अतिरिक्त होना चाहिये, वहां जन्म आदि पांच पदार्थोंका विचार करना चाहिये, क्षेत्र और बीज समान जातिके न हों तो फल पैदा नहीं होगा, न कि फल और साधनके जन्म आदिकी समानता चाहिये, अतः लौकिक दृष्टिसे ही जो आपको साधनरूप मानते हैं उनकेलिये ही इस वाणीकी युक्ति है, न कि हम लोगोंकेलिये है, असमानसे विवाह न करना यह युक्ति आपके और हमारेलिये नहीं है क्योंकि साधन प्रकरणसे ही यह वाक्य उत्कर्षके योग्य है, न कि इस फल प्रकरणमें किसी भी अंशसे सम्बन्ध रखता है. क्योंकि आप ही सर्व पुरुषार्थरूप हैं, धर्म आदि पुरुषार्थ आपके अवयवोंमें रहते हैं, जैसे गंगामें जल, जलसे गंगा महान है, वैसे ही आप पुरुषार्थोंसे महान है, इसलिये (पुरुषार्थोंसे आपकी महत्ता दिखानेकेलिए) 'पुरुषार्थमय' पदमें 'मयट्' प्रत्यय दिया है, पुरुषार्थ साधनोंसे वहां सिद्ध होंगे? यह शंकाकर उत्तर देती है कि 'फलात्मा' पुरुषार्थ साधनरूप भी होते है, यों साधन और फलरूपका प्रतिपादन किया जाता है, अथवा सब फलोंकी आत्मा आप हैं. यों भी नहीं है कि परमानन्दमें कुछ भी अपना अधिकार नहीं हैं, इसलिये विलम्ब करते हैं, आर्षज्ञानसे यह बताया कि भगवान् ही साधन तथा फल हैं लौकिक बुद्धिसे उनको न मानकर, उनके भी अनुग्रहकेलिये युक्ति कहती है. 'यद्वाञ्छया' जब फल प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, तब उसकी प्राप्तिमें जो विरुद्ध कर्म हैं, उनका त्याग करना पड़ता है और साधनोंको ग्रहण किया जाता है न कि अन्य फलकी इच्छासे सिद्ध हुए फलोंका त्याग किया जाता है, फलोंमें विषमता है क्योंकि एक सिद्ध है दूसरा सिद्ध नहीं है, इस कारणसे जो सत्य सिद्ध फल है उसका त्याग नहीं किया जा सकता है. अतः राज्य न फल है और न साधन है, इसलिये कहा है कि जिस फलकी प्राप्तिकी इच्छासे राज्यादिको छोड़ दिया

जाता है, शंका होती है कि राज्य ऐहिक फल तो है, उसके त्यागसे क्या भ्रान्तपन होगा? जिसके उत्तरमें कहा कि 'सुमतयः' जो राज्यादिका त्याग करते हैं, वे ज्ञानी है, अतः भ्रान्त नहीं होते हैं, अब सुमतिपनमें हेतु कहती है कि कर्त्तव्य, साधन और साध्यरूप होनेसे भगवानको वह ही ग्रहण करता है न कि दूसरा कोई इस लिये कृत्यका भावार्थ छेदन है, संसारासक्तिको तोड़ डालना, अतः आपकेलिये ही जो, संसार तोड़कर आपकी शरण लेकर सिद्ध हुवे हैं, उनका और आपका समाज ही उचित है, यद्यपि मंत्री और विवाह उनमें भी नहीं बन सकता है, तो भी एक गोष्टीमें सम्बन्ध मात्र भी बन जाता है, इसलिये वह निरूपण किया जाता है, हे विभो! सम्बोधनसे सामर्थ्य प्रकट किया है, राज्यआदिका त्याग करनेवाले बहुत सुकुमारोंके सन्तोष करनेमें यह समाज राज मन्त्रियोंके समान अच्छी तरह उचित है, सर्व प्रकार उनकी समानता प्रतिपादन करनेकेलिये दृष्टान्त देती है, 'पुंसः स्त्रियाश्च' जैसे पुरुष और स्त्रीका समाज, 'च' पदसे समानशील और व्यसनवाले मित्रोंका समाज, 'अश्वं न त्वा वारवन्तं' इस वाक्यानुसार, उपमार्थको कहनेवाले पदोंके अभाव होते हुए भी निरुक्तकी तरह उपमार्थत्व कहा जाता हैं, वैसे यहां भी, वहां भी प्रसंगको 'रतयोः' कहकर निषेध करती है. सर्व प्रकारके क्लेशरहित होने पर, परस्पर प्रेमवाले, यदि प्रेम आदि होते हुए भी बाधक हो पड़े तो तब नहीं होता है, 'सुखदुःखितोर्त' एक सुखी है, दूसरा रोग आदिसे दुःखी है, उनका समाज रसजनक नहीं बन सकता है, इससे दोनों सुखी अथवा दोनों दुःखी हों तो समानताओंमें समाज बनता है।।३८।।

यह भी जो आपने कहा कि भिक्षुओंने व्यर्थ मेरी अज्ञान समर्थनार्थ बड़ाई की है, इस विषयका भी 'त्वं न्यस्तदण्डं' श्लोकसे निर्णय देती है.

त्वं न्यस्तदण्ड मुनिभिर्गदितानुभाव
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि।
हित्वा भवद् भ्रुव उदीरितकालवेग
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये।।३९।।

आपने कहा हमें भिक्षुक व्यर्थमें सराहते हैं, किन्तु वे साधारण भिक्षुक नहीं है, किन्तु जो सर्वत्यागकर सन्यास ले मुनि हुए हैं, वे आपकी प्रशंसा करते हैं, आपने कहा तुमने मुझे भूलसे वरा है, किन्तु मैंने भूलसे नहीं बल्कि उनको वरा है, जो आत्मारूपसे सबको प्रिय लगते हैं और जो आत्माका दान भी करते हैं, आप

ही वह है, ऐसा जान आपको वरा है. मैंने बहुत आगा-पीछा विचारकर और आपके स्वरूपको पहचानकर वरा है दूसरोंकी तो बात ही क्या? परन्तु ब्रह्मा, शिव इन्द्रादि भी जिनकी भ्रुकुटीसे प्रेरित कालके वेगसे नाश हो जाते हैं, ऐसे आपको जानकर, उनको छोड़, आपको वरा है।।३९।।

'भिक्षुभि' पदका अर्थ परमहंस करना चाहिये, और 'मुधा'का अर्थ फलकी इच्छारहित करना चाहिये अर्थात् जो सांसारिक फलकी इच्छा त्याग परमहंस बने है, वे भिक्षुक हैं यदि यों अर्थ किया जायेगा, तो नारद आदि मुनियोंमें लौकिक भिक्षुकत्व न होनेसे आपका कहना बाधित अर्थवाला हो जायगा और जो दूसरे साधारण भिखारी हैं, वे तो आपका गुणगान नहीं करते हैं, इस विषयको स्पष्टकर कहते हैं कि जिन परमहंस मुनियोंने भूतों पर भार छोड़ स्वयं दोषरहित हो गये है, वे मुनि स्फुटवाणीसे गुणों द्वारा आपका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकटकर रहे है, केवल बड़ाई नहींकर रहे है, किन्तु जैसा भी किया है, वैसा ही अनुभाव प्रकटकर रहे हैं, वह जो कुछ उन्होंने प्रकट किया है वह उनका अपने अनुभवसे सिद्ध है, यदि इस प्रकार अनुभव न किया हो तो ऐसे मुनि परमहंस कैसे बन सकें, अतः उनके कहे हुए वचन सार्थक सत्य हैं, उनके वचनोंसे जानकर, आप सम हो इसलिये मैंने आपको वरा है. समान कैसे? जिसका उत्तर देती हैं कि आप सबकी आत्मा होनेसे मेरी भी आत्मा हैं, यह सममें हेतु है जिस प्रकार बाहरकी दृष्टिसे समानता बतानेवाले जन्म आदि है, वैसे ही अन्तदृष्टिमें समता सिद्ध करनेवाला आत्मपन ही है, किसीको भी अपनी आत्मा समान नहीं है, यों नहीं है, किन्तु सम ही हैं, तो फिर वरणकी क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर देती है कि आप केवल आत्मा नहीं किन्तु आत्मा देनेवाले भी हैं, जीव खण्डित आत्मावाले हैं क्योंकि पूर्ण आत्मा सत्, चित् और आनन्दरूप हैं. जीवात्माओंमें आनन्दांश तिरोहित होनेसे वे खण्डात्माएं हैं, उन(जीवों)की आत्माको आप अपनी आत्मा यानि आनन्दांश देते हो. इससे मैंने समझा, आप अपनी आत्मा देंगे, इसलिये मैंने आपको वरा है. 'च' शब्दसे यह भी बताया कि अपने धर्मादि भी दोगे? मैं तुम्हारी आत्मा कैसे? इसका उत्तर साधारण रीतिसे देती है कि 'जगताम्' सबकी आत्मा हो जिससे मेरी भी हो, इस बुद्धिसे ही वश है, इसलिये उन ब्रह्मादिको भी छोड़ आपको वरा, मैंने ही उनका त्यागकर आपको वरा यों नहीं है, किन्तु मुझसे पूर्व ही लक्ष्मी स्वयंवरमें जन्म और ऐश्वर्य आदिसे युक्त ब्रह्मा, शिव और इन्द्र

आदिको छोड़ लक्ष्मीने भी आपको ही वरा था, तूने और उसने ऐसा क्यों किया? जिसका उत्तर देती है कि क्षण भी विस्मृति होनेसे आपके भ्रुकुटिरूप कालके वेगसे ही उन(ब्रह्मादि देवों)का सर्वनाश हो जाता है, उनके वरणसे क्या लाभ? कोई भी स्त्री जो मरनेवाला है उसको नहीं वरती है, जब ब्रह्मा आदिकी यह दशा है तो दूसरे 'वरण' योग्य कैसे होंगे, अतः जानकर ही आपको वरा है, दूसरे वरण योग्य भी नहीं हैं, भगवानका कहा हुआ वाक्य हमको वरनेमें बाधक नहीं है और उदासीनत्व भी बाधक नहीं है, क्योंकि आप आत्मा और आत्माको देनेवाले होनेसे मुझे(हमको) इष्ट ही हो कारणकि मैं भी वैसी बन जाऊंगी।।३९।।

इस प्रकार बाधक पदोंका साधनपनसे विवेचनकर और वाक्यका तात्पर्य कहकर, सुने हुए भगवद्वाक्य लोकदृष्टिसे भी विरुद्ध भासते हैं, इससे विपरीत होनेसे अपने उत्कर्ष ही प्रतिपाद करते हैं, यों कहना चाहिये, इस अभिप्रायसे 'जाड्यं वचः' श्लोक कहती है.

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यश्च भूपान्विद्राव्य शार्ंगनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागं तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः।।४०।।

हे गदाग्रज! शार्ङ्गधनुषके टंकारसे राजाओंको भगाकर, जैसे सिंह अपना भाग पशुओंको भगाकर ले आता है, वैसे ही मुझे आप ले आए हैं, उनसे डरकर भयके मारे आपने समुद्रकी शरण ली है, यह कहना वाणीकी ही मूर्खता है।।४०।।

इसके बाद सब श्लोक लोकदृष्टिसे भी विरुद्ध हैं. इसलिए फिर उनकी व्याख्या करती है; क्योंकि वास्तवमें वे श्लोक विपरीत व्याख्यासे अपना उत्कर्ष ही प्रतिपादन करते हैं, तब वे वाक्य ध्वनि पर होनेसे उनकी योजना उसी प्रकारसे करनी ही चाहिए. पहले ही जो कहा कि राजाओंसे डरकर हमने समुद्रकी शरण ली है. इसका उत्तर देती है कि 'प्रेम प्रकोपसे कम्पित अधरवाले मुखको देखनेकेलिए' यह भगवानकी कही हुई वाणी है, वह तामस प्रकारसे क्रोधाविष्ट होकर वाक्योंको खण्ड-खण्ड करती है, इसलिए पहलेसे विशेष है. भय जड़को होता है, जड़तासे कम्पन होता है, भगवानमें तो भयके हेतुका अभाव है, वक्ताका शब्द भयवाचक है अर्थात् शब्दमें भय रहता है न कि भगवानमें. भट्टोंकी तरह शब्दोंकी दो वृत्ति वक्तृत्व और वाचत्वकी कल्पनाकर वाणीकी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए, इसलिए कहा है 'जाड्यं वचः' वाणीमें ही जड़ता और भीतत्व है न कि वक्तामें जड़ता अर्थात् भय है. 'तव' समासकर नहीं कहा, जिसका कारण है कि

भेद दिखाना था यानि वाणीसे भय है, वक्तामें नहीं है. 'ननु' शंका होती है कि वक्ता उपस्थित है तो भी मुख्यअर्थको छोड़कर वाणीकी जड़ता कैसे प्रतिपादन की जाती है? इसलिए कहती है कि गदाग्रज! आप गदाग्रज होनेसे जैसे गदकी उत्पत्ति तक आपने निर्भय होते हुए भी जड़ क्रियाका सम्पादन किया था, जैसे ही यहां वाणीका भी सम्पादन किया है, इससे भगवानकी इच्छासे ही कायिक, वाचिककी उत्पत्ति होनेसे किसी प्रकार दूषण नहीं है. वच, वाच वा वचस वो छान्दस है अथवा किसी धर्मसे, ज्ञानके अभावसे लोकमें जड़ होते हैं, प्रकृतमें तो जड़पनका सम्पादकत्व वाणीका ही है, केवल वाक्यसे ही भय प्रतीत होता है न कि अर्थसे. 'च' पदसे यह सूचन करती है कि भगवानकी बहुत प्रकारसे जय हुई है, जो आप शार्ङ्गधनुषकी ध्वनिसे ही राजाओंको डराकर पशुके समान बताकर मुझे ले आए, पशु ही केवल शब्दसे डरकर भाग जाते हैं, प्रथम ध्वनिसे ही दबाकर बुलाए थे, पश्चात् युद्धकेलिए प्रवृत्त होने पर बलसे सबको मारा, इसलिए कोई विरोध नहीं है, जो शब्दमात्रसे भाग जाते हैं, उनको उससे भयकी सम्भावना होती है. धनुषके ध्वनिसे ही यह हेतु यहां बताया है, जिससे यह जाना जाता है कि पहले धनुषकी टंकार की है. 'राजन्य चक्रं परिभूय इति' इसमें यहां 'शार्ङ्गनिनदेन' इसकी योजना करनी चाहिए, वे असावधान थे, इसलिए देववश मुझे ले आए, इस पक्षका खण्डन करती है कि जैसे सिंह बलपूर्वक बलिको ले आता है, वैसे छीन लाना तो दोष है, इसके उत्तरमें कहती है कि दोष नहीं है क्योंकि आप अपना भाग ले आए हो, दूसरेका भाग ले आते तो दोष था, नहीं दिए हुएको लानेमें भी आपको दोष नहीं है और आपने इससे अपना सामर्थ्य प्रकट किया, इसको सिद्ध करती है कि 'ईश' आप स्वामी हैं, जो भाग होमा नहीं गया है, वह क्लृप्त भाग भी देवता नहीं लेते हैं. ईश्वर यों नहीं करते हैं, लोकमें अपना भाग बलपूर्वक ले लेना देखा गया है जैसे आप मुझे बलपूर्वक लाए हो, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है. सिंह पशुओंको ले आता है; क्योंकि वे उसका भाग है, किन्तु सिंह एक सिंहकी कन्याको बलसे नहीं ला सकता है, यद्यपि अपना भाग है, देवादिकोंकी रक्षाके अभावसे अपनी बलि है, यों समझ लाए हो, अपनेलिए ही देवोंसे जैसे सिंह अपना भाग ले जाकर खानेवाले पशुओंको डराकर नादसे ही भगाकर अपना भाग जो गण्डस्थलका मांस है, उसको ले जाता है. इस प्रकार बिना संकोचके निडर हो ले आनेवाले आपको भय कैसे? आप विरुद्ध अर्थको बतानेकेलिए भयके

वाक्योंका केवल अनुवाद करते हैं, उनके डरसे आपने समुद्रकी शरण ली है, यों कहना केवल वाक्योंका जाड्य यानि अज्ञान है. श्लोकके उत्तरभागमें जो यह शब्द आया है, वह 'तत्' शब्दकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिए यहां 'तत्' शब्दके अध्याहार(बाहरसे लाने)की आवश्यकता नहीं है, पशुतुल्य जो डराये गए हैं, उनकेलिए भयवचन बाधितार्थ होते हैं, इसलिए विपरीतपनसे अर्थ कहना चाहिए यह भाव है, इस कारणसे ही 'बलवद्भिः कृतद्वेषात्' यों कहा है. जो पशु भाग जाते हैं, वे कभी बलवान् नहीं होते हैं, आपने आप ही 'राज्यासन' छोड़ दिया, जिसमें आपका उत्कर्ष ही है।।४०।।

भगवन् आपने जो यह कहा कि हमारा मार्ग अस्पष्ट है और उस मार्ग पर चलनेवाले दुःखी होते हैं, इन वाक्योंमें भी अन्य अर्थकी प्रतीति होती है, वाक्यका अर्थ ज्ञानजनक न होनेसे इसका निर्णय ध्वनिप्रकारसे करना चाहिए. वह 'यद्वाञ्छया' श्लोकमें कहती है.

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य
जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्।।४१।।

आपने जो कहा हमारे मार्गका जो आश्रय लेते हैं, वे दुःखी होते हैं, यों कहनेका भावार्थ अन्य है; क्योंकि राजाओंके शिरोमणि अंग, पृथु, भरत, ययाति, गय आदि राजा आपका भजन करनेकेलिए चक्रवर्ती राज्य छोड़ बनमें गए. हे कमलनयन! जो आपके मार्गका इस प्रकार आश्रय लेते हैं, क्या वे दुःखी होते हैं? नहीं, किन्तु आपके स्वरूपानन्दको प्राप्त करते है।।४१।।

'योषित' यह पद उपलक्षक[१] मात्र है, इससे पुरुष भी दुःखी होते हैं, यों कहना वा समझना चाहिए. स्त्री पद प्रौढ़ामें[२] अनन्य वृत्तिवाला नहीं है, इसलिए पुरुष भी समझे जाते हैं. 'अवसादः'का अर्थ है वहां ही लय होना, भगवान् आगे गए, उस मार्गसे जानेकी अभिलाषासे राज्यादिका त्यागकर राजाओंके शिरोमणि अम्बरीष आदि वनमें गए क्योंकि उनको भगवद्दर्शनकी इच्छा थी. भगवानके दर्शन राज्यादिसे महान् है. भगवान् पृथ्वी पर पधारे तो भी वे वहां आनन्दमग्न होनेसे यहां फिर लौट न आए, पहले भी पीछे लौटकर न आए. किन्तु जब आए तब प्रभु चरणारविन्दमें लीन होकर भगवन्मार्ग दिखानेवालोंकी भांति स्थित रहे,

यदि वे न आकर यों न रहते तो भगवानकी प्राप्तिका मार्ग प्रवृत्त न होता, अतः आपका कहा हुआ दुःखका वाक्य यथार्थ है, तो भी बहुत उस पर चलते हैं, इसलिए दूषण नहीं है. एकस्थान पर कहा हुआ सर्वत्र कैसे जोड़ा जाता है? इसका उत्तर देती है कि 'ते इहास्थिताः किम्' वे अंग आदि यहां घरमें ही सदैव रहे क्या? नहीं रहे. अंग राजा पृथुका दादा था, 'वैन्य पृथु' है, 'जायन्त' जयन्तीका पुत्र भरत है. 'नाहुष' ययाति है, 'गय' प्रियव्रतके वंशमें उत्पन्न कोई राजा हुआ है. वे क्या मरण पर्यन्त घरमें ही रहे? घरमें नहीं रहे, किन्तु आपको पानेकेलिए वनमें जाकर रहे, वहां ही मृत्युको प्राप्त हुए, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लौकिककेलिए घरमें ही रहे. सचमुच ये मरे, वे तो मरे नहीं, क्योंकि ये स्वतः प्राप्त राज्यका त्यागकर वनमें कष्ट भी सहन करते हैं, किन्तु भगवानके आनन्दको प्राप्तकर लेते हैं, जिससे अधम राज्यका छोड़ना एवं वनके श्रमको सहन करनेमें उनकेलिए कौनसी आश्चर्यकी बात है? यह भाव है।।४१।।

१.अन्य सम्बन्धीका भी ज्ञान करानेवाला है. जैसे कहा जाय कि कौओंसे दहीकी रक्षा करो, जो इसका भावार्थ अन्य कुत्ते आदिसे भी दहीकी रक्षा कीजिए. इसको 'उपलक्षक' कहते हैं. २.प्रौढ़ा पद पाठ है, यों पुस्तकमें फुटनोटमें दिया है.

'निष्किञ्चना वयं शश्वत्' यों भय न्यायसे ही निवारण किया हुआ भी लक्ष्मीके आश्रयत्वसे उसको हटाते हुए आढ्यके भजन न करनेको भी विपरीत होते हुए दूर करती है 'कान्यं श्रयीत' इस श्लोकसे.

कान्यं श्रयीत तव पादसरोजगन्धम् आघ्राय सम्मुखरितं जनतापवर्ग्यम्।
लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः।।४२।।

हम निष्किञ्चन हैं, इसलिए तू किसी योग्य आढ्य क्षत्रियको वर ले, यह आपका कहना तब मैं मानू, जब आपके गुणोंके आश्रय चरणकमलकी गन्धका रस न लिया हो, जगतमें कौनसी स्त्री है जो आपके चरणकमलकी गन्धको लेकर फिर दूसरेका आश्रय करे; क्योंकि आपका चरण लक्ष्मीका निवासस्थान है, सत्पुरुषोंने उनकी महिमा गाई है, लोगोंके मोक्षका स्थान है और गुणोंका आश्रय है, ऐसे चरणोंको त्याग, सदैव मृत्युसे दबे हुए स्वार्थी अन्यको कैसे वरेगी अर्थात् नहीं वरेगी।।४२।।

कौनसी ऐसी स्त्री है, जो आपके चरणकमलकी गन्ध लेकर, लहसुनकी दुर्गन्ध समान अन्यको वरना चाहेगी? इससे बताया कि जो पदार्थ उत्तम है, उसमें

ही क्वचित् रुचि होती है, ऐसा निन्दित भी होता है, इसके उत्तरमें कहती है कि इसकी निन्दा किसीने भी, कहीं भी, कैसे भी, नहीं की है, सर्वथा अनिन्दित ही है, इतना ही नहीं किन्तु सर्वथा श्लाघ्य गुण एवं सुखनिधि हैं, जैसाकि चरणोंकी बड़ाई तो सत्पुरुषोंने इस प्रकार बार-बार की है. जैसे कोई मुखर बोलते हुए रुकता नहीं है, वैसे सत्पुरुष भी आपके चरणोंका गुणगान करते ही रहते हैं तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती है, आपके चरण फलको सिद्ध करनेवाले हैं, इसलिये प्राणिमात्र जो भी उनका आश्रय लेता है. उसको मोक्ष देते हैं साथमें सर्व प्रकारके सुख भी देते हैं, यों प्रमाण और फल हो तो आपके चरणाश्रयसे प्राप्त होते हैं, यह सिद्ध किया, किन्तु, स्त्रियोंमें मुख्यलक्ष्मी सम्पत्तिरूपा है, उसका गृह वह चरणकमल ही है इसलिये सर्व स्त्रियोंको वहां ही स्थिति करनी चाहिये, ननु शंका होती है कि यदि यों है, तो सर्वके अन्यपति कैसे हैं? इस शंका निवारणकेलिये 'तु' शब्द कहा है, 'अविगणय्य' आये हुए वा प्राप्त हुए भगवानका विचार न कर, कोई भी स्त्री, दूसरेका आश्रय न लेगी, विशेषमें कहती है कि जो स्वयं मरण धर्मवाले हैं, वे तो मरण मिटाकर आत्मा देनेवाले भगवानकी ही सेवा करनेकेलिये योग्य हैं न कि जिनको सदैव कालरूप मरणका महान भय बना रहता है उनका भजन आश्रय नहीं करना चाहिये, किन्तु गुणालय भयरहित आनन्दरूप एवं आत्मानन्द देनेवाले आपका करना चाहिये, अतः जो गुणरूपा होगी वह आपका ही आश्रय लेगी, जो दोषरूपा होगी वह दूसरेका आश्रय ग्रहण करेगी, शंका होती हैं कि देखा जाता है कि बहुत गुणवालियां भी अन्यको वरण करती है यदि यों न होवे तो भगवानके विराजते हुए दूसरोंका विवाह ही नहीं होना चाहिये, किन्तु वह तो होता ही है, इसके उत्तरमें कहती है कि जो तात्पर्यका विचार नहींकर सकती है, यथार्थको नहीं जान सकी हैं वे अन्य भजन करती हैं. लक्ष्मीकी अंशरूपा होनेसे जो गुणरूपा स्त्री अन्यको वर लेती है उसके प्रयोजन स्वार्थमें तारतम्य रहता है, किन्तु वास्तवमें उसको भगवदाश्रय करना ही उचित है, इससे यह सिद्धकर बताया कि समानतामें विवाह करना यह साधारण नीति विवाह है, इसलिये साधारण ही करते हैं, किन्तु उत्कृष्ट विवाह करना चाहिये, 'उन दोनोंका विवाह और मैत्री' इस पक्षका निराकरण किया है, यदि आपका कहा हुआ यह पक्ष लिया जाय तो लक्ष्मीजी आदिका विवाह बन नहीं सके, क्योंकि लक्ष्मी आदि और आपकी समानता कहा है।।४२।।

'वैदर्भ्येतदविज्ञाय' इस श्लोकका उत्तर 'तं त्वा' श्लोकमें देती है.

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशमात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम्।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः।।४३।।

अतएव सर्व प्रकार योग्य जगतके स्वामी इसलोक तथा परलोककी कामनाओंके पूरक, आत्मरूप आपको ही मैं वरी हूं, चाहे मैं अनेक प्रकारकी योनियोंमें भटका करूं तो भी मेरी यही प्रार्थना है कि वहां भी संसारका नाश करनेवाला भक्तोंको अपना बनानेवाला, आपका चरणकमल ही मेरा आश्रय हो।।४३।।

यदि मैंने अज्ञानसे वरण किया होता तो आपको न वरकर दूसरेको वरूंगी किन्तु मैंने समझकर ही वरण किया है, इसलिये अपना जाना हुआ अर्थ कहती है, जो पहले कहे हुए लक्ष्मीपतित्व आदि धर्मसे युक्त हैं, उसको वरा है, वह आप अवतार दशामें भी वैसे ही स्वरूपवाले हैं किसी प्रकार वह स्वरूपच्युत नहीं हुआ है यदि कहो कि तो भी समानमें विवाह करना उचित है, जिसका उत्तर यह है कि उत्कृष्ट होनेसे आप मेरे अनुरूप(समान) ही हैं, किन्तु, मैं आपके अनुरूप नहीं हूं, इस कारणसे यह उलाहना मुझे नहीं देना चाहिये, क्योंकि बहुत जो निकृष्ट हैं वे भी अपनी शक्तिके अनुसार ईश्वरकी सेवाकर सकते हैं, कारणकि आप समस्त जगतोंके ईश है, आप सबकी आत्मा होनेसे सेव्य हैं, सब सेवासे स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, आप तो आत्मा हैं और पुरुषार्थ देनेवाले हैं, जिससे सेव्य ही हैं, वह ही आप इसलोक और परलोककी कामनाओंके पूरक है, दो चकार देनेका भावार्थ यह है कि एक 'च'कारसे बताया कि आप इसलोकमें परलोकके सुख भी देते हैं और परलोकमें जाति स्मरण आदिसे इहलोकके फल देते हो, एवं अभिलषित अर्थको जलरूपसे वा प्रवाहरूपसे पूरण करते हो, यह जो कहा कि हम उदासीन हैं, अतः हमसे कोई कामना नहीं है तो आपकी वा शरण आये हुवोंकी कामनाएं कैसे पूरण करूंगा? यदि यों कहो तो इस पर मेरा प्रार्थनापूर्वक यह कहना है कि संसारमें निराश्रय होकर भ्रमण करती हुई जो मैं हूं उसका आपके चरण ही आश्रय होवे, कामनाओंकी पूर्ति आदि न होने पर भी चरणका आश्रयत्व नहीं टूटता है, अथवा चरणका आश्रय आप नहीं छुड़ाते हैं. यदि केवल आश्रयसे भगवान् कुछ भी न करे तो क्या होगा? यह शंकाकर कहती है कि जो भगवद्भक्त भजन करता है उसको यदि भगवान् न देवें और भक्त याचना भी न करे, तो भी

मोक्ष स्वतः भगवद्भक्तको पा लेता है अर्थात् शरणागत भक्तका मोक्ष हो ही जाता है जैसे शरणागतको चरणकमलकी गन्ध स्वतः मिल जाती है जो भगवानकी शरण गया वह सीमाके अन्तमें पहुंचनेवालेके समान पार हो ही जाता है, अतः विशेष फल नहीं भी मिले तो भी मोक्ष तो सिद्ध ही है।।४३।।

यदि यों इतना ही है तो प्रार्थना करनी चाहिये, तब विषयभोगके अनन्तर अन्यके शास्त्रानुसार भजन करनेसे भी मोक्ष होगा, अतः विषयाधिकारीके दोनों कार्योंको छोड़कर, मेरा भजन कैसे? यदि यों कहते हो तो जिसका उत्तर 'तस्याः स्युः' श्लोकमें है.

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडाल भृत्याः।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयाता युष्मत्कथा मृडविरिञ्च्यसभासु गीताः ।।४४।।

हे अच्युत! हे शत्रुदमन आपने कहा कि बड़े-बड़े वैभववाले राजा तुम्हें चाहते थे, उनको न वर मुझे वरा वह उचित नहीं किया, यह आपका कहना उनकेलिये योग्य है, जिनके कर्णमूलमें आपके गुण न गाये हों वैसी स्त्रियोंके वे नृप भले योग्य हो, आपने जिन राजाओंका उपदेश दिया, ये तो स्त्रियोंके घरोंमें गधेके समान केवल भार उठानेवाले बैलके समान क्लेश पानेवाले, श्वानके सदृश अपमान सहन करनेवाले, बिड़ालकी तरह कृपण एवं क्रूर, सेवककी तरह पराधीन होकर रहते हैं. ऐसे वे पति तो मन्दभागिनी जो हो उसको मिलना चाहिये, मैंने तो ब्रह्मादिकी सभाओंमें गाये हुए आपके गुण सुने हैं, ऐसी मैं आपको छोड़ दूसरोंको कैसे वर सकती हूं।।४४।।

आपका कहना सत्य है, जो वैसी प्राकृती हो उसके, आपने जो चैद्या आदि कहे, वे सर्वथा विषयोंकी ही पूर्ति करनेवाले राजा पति होवे, जो केवल विषयोंको ही चाहती है, यदि सब स्त्रियां विषयको ही चाहती है, इस पर मेरा कथन यह है कि वे विषयको तथा विषयी पुरुषोंको चाहती हैं जिनके कर्णमूलमें आपकी कथा न पड़ी है, कथा कर्णमूलमें प्रवेशकर जैसे विषयाभिलाषाको दूर करती है वह प्रकार कहती है, राजा सर्वथा विषयोंके पोषण कैसे हैं और भगवान् नहीं है यह दोनोंमें विलक्षणता है, जिसको सिद्धकर दिखाती है 'स्त्रीणां गृहेण' स्त्रियोंके सोने, भोजन, विहार और मलत्याग आदि घरोंमें, जो राजा अपना उत्कर्ष छोड़, उन स्त्रियोंके भृत्य हो सेवा करते हैं, जैसे घरके सेवक हो सेवा करें, दासतामें भी चार प्रकार विशेष कहती है, जल आदि ले आना जो स्त्रियोंका

कर्त्तव्य है वह उनसे न कराकर स्वयं करते हैं, इसलिये गर्दभ(गदहे)के समान हैं, तथा जो स्त्रियोंका अन्य कर्त्तव्य भी आलस्य त्यागकर स्वयं करते हैं, वे उनके गर्दभ ही हैं इसी प्रकार गायोंको दुहनेका स्त्रियोंका कार्य भी आप ही करते हैं और शकटों(छकडे, गाडी)में बिठाकर, बैलोंकी तरह आप खींचकर ले जाते हैं, अपना सर्वस्व दे देते है जिन देशोंमें जाना चाहता है उन देशोंमें उनका भार भी उठाकर उनको वहां पहुंचा देते हैं, जैसे कुत्ते रात्रिको घरके स्वामीके सो जाने पर स्वयं जागकर घरकी रक्षा करते हैं, वैसे ये भी नीचे बनकर शरीरसे स्त्रियोंकी पालन करते है, इस प्रकार उपरोक्त कार्योंसे इनका सेवकपन बताया, इस प्रकार होते हुए भी यदि भोग समान होवे वा भोगकेलिये होवे तो कोई चिन्ता नही, किन्तु उसके दोष एवं निकृष्ट, उच्छिष्ट तथा अनुपयुक्तका ही भोग होता है इसलिये बिडालका दृष्टान्त दिया है, जिस कारणसे वह भोजनकी मांग करता हुआ स्त्रियोंके चरणोंमें पड़कर अनेक चेष्टाएं करता है, यों चेष्टाएं करनेके अनन्तर ही स्त्रियां स्वयं दूध पीकर बादमें बर्तनमें बचा हुआ कदाचित् उसको देती है. जो निकृष्ट सदा भोग चाहनेवाले हैं, उनसे ही स्त्रियोंका भोग सम्पादन किया जा सकता है, विषयको चाहनेवाली ही ऐसे पुरुषोंको चाहती हैं, भगवत्कथाएं सबके कानोंमें साधारणरूपसे प्रवेश करती ही हैं, जिस प्रकारके प्रवेशसे कार्य करती है वह बताती है 'कर्णमूलम्' भीतर प्रवेशमें सम्बन्ध कथाओंका है, कथाओंके सुननेसे विषयकी चाहना मिट जाती है, जिसमें कारण बताती है 'अरिकर्षण' आप शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं इसलिये कथाएं आपका ही रूप है जिससे वे 'विषय' पदका अर्थ शत्रु है वे भी इन शत्रुओंको नाशकर देती है. अतः वे कथाएं भी अच्युतरूप है जिस कारणसे उनके नाश होनेकी शंका ही नहीं है, अर्थात् विषयरूप शत्रु उन कथाओंको तो नाश नहींकर सकते हैं, प्रत्युत उनसे स्वयं नाश हो जाते हैं, इसमें भी कथाएं बहुरूपवाली होनेसे एकरूप भगवानसे बलिष्ठ हैं, उसमें भी स्वयं ही समीपमें आई हैं क्योंकि बहुत हैं, 'युष्मत्कथा' समास है, करनेका कारण यह है कि कथा और भगवानका नित्य सहभाव रहता है, कथाएं विषयोंको नाश करती हैं इसमें युक्ति बताकर अब इसमें प्रमाण कहती है कि आपकी कथाएं ब्रह्मा, शिव आदिकी सभाओंमें गाई जाती हैं, वे दो उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हैं, वे दो उनके आधीन हैं, इसलिये उनको इन कथाओंकी अपेक्षा है, जिससे वे अपनी-अपनी सभामें इन(कथाओं)को गाते हैं, नित्यप्रति

की हुई सर्व सभाओंमें भगवानकी कथाएं गाई जाती हैं, इससे यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मा और शिवसे भी भगवान् उत्तम है इन दोनोंने कथाओंके फलका निर्णय किया है यह प्रमाण निरूपणमें कहा हुआ है, इस निर्णय करनेमें वे दो ही मुख्य हैं इससे स्त्रियोंके शापका निरूपण किया, जो स्त्री भगवत्कथा नहीं सुनती है वह वैसे पतिको स्वीकार करती है, सामान्यरूपसे स्त्रियां दुष्ट है यों योनि दोष मानकर भगवान् इस प्रकार निषेध करते हैं. यों वह(रुक्मिणी) मानती है नहीं तो असमान पुरुषोंका भजनमें निषेध न कर, मुझे ही कैसे निषेध करते हैं यों।।४४।।

उन स्त्रियोंको ऐहिकसुख उन पुरुषोंसे प्राप्त होगा, ऐहिक-पारलौकिक समान होनेसे शाप अप्रयोजक है, यों शंकाकर इस श्लोक 'त्वक्'में उत्तर देती है.

त्वक् श्मश्रुलोमनखकेशपिनद्धमन्तर् मांसास्थि रक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ।।४५।।

जिसने आपके चरणकमलकी मकरन्द गन्ध नहीं सूंघी है वह मूर्ख स्त्री, जिसका शरीर बाहर खाल, दाढ़ी, मूछ, नख केशोंसे मढ़ा हुआ है, उसके भीतर मांस, हड्डी, लोहू, विष्ठा, कफ़, पित्त और वायुसे युक्त है ऐसे जीते हुए शवको, पति समझ भजती है।।४५।।

शवका आलिंगन करनेसे कोई भोग नहीं होता है स्वप्नमें यदि ऐसा दर्शन हो जावे तो मृत्यु होती है, अग्नि प्रवेश और शवका आलिंगन होनेसे तो स्पष्ट मृत्यु हो जाती है, यदि उस देहमें कुछ इन्द्रियवान् चेतन हो, तब वह गर्दभादिभावको प्राप्त नहीं होता है अतः केवल शव ही है, परन्तु जीवित होते हुए भी शवके समान है. जीवच्छवमें प्रसिद्धरूपसे प्राण मौजूद हैं, केवल शवत्वके कारण ही दूषण है, किन्तु उसके अवयवके अंश भी विचार करने पर बाह्य और भीतर दोनों भेदसे दुष्ट दीखते हैं, इस जीते हुए शवके चारोंतरफ, चमड़ी लपेटी हुई है, ऊपरके लम्बे भागमें दाढ़ी, मुछ आदि हैं, जैसे पूर्वभाग आठ दिशाओंवाला है, जैसे सर्वत्र तृण होते हैं, वैसे लोम हैं, जैसे महल पर शृंग वा त्रिशूल होते हैं, वैसे नख हैं, पश्चात् केश हैं, इस तरह इनसे बाहर लपेटा हुआ बन्द है, भीतर इसके मांस, उस मांसके आधार हड्डियां हैं उसके मध्य नाड़ियोंमें लोहू है. नाड़ियां बाहिर भी आती है इसलिये खून मांससे बाहिर भी दीखता है, वास्तविकरीतिसे तो भीतर है, वहां कीड़े क्षुद्र जीव, उससे भी मध्यमें विष्ठा, कफ-बात और पित्त ये शास्त्रसिद्ध रोगके सूचक है, इस प्रकार दृष्ट-अदृष्ट दोष निरूपण किये हैं यदि

ऐसा है तो कुत्सित है, तब वैसेको कैसे भजती है, जिसका उत्तर देती है कि यह मेरा कान्त(परमसुन्दर पति) है, इस उत्कृष्ट बुद्धिसे भजती है. हर रोज उसका मलत्व आदि देखती है फिर भी उत्कृष्ट बुद्धि कैसे होती है. जिसका निराकरण करती है कि 'विमूढ़ा' विशेष मूर्ख है, यदि कहो कि सब स्त्रियोंकी यह ही दशा है, साधारण रीतिसे इसको ही भोग कहा वा समझा जाता है. इसको ही सुख देनेवाला देखनेसे यों करनेसे ही सुख होगा इसलिये इस पर दोषारोपण करना व्यर्थ है, इस पर कहती है कि जैसे श्रोत्र(कान) कथारसको ग्रहण करता है, वैसे घ्राणेन्द्रिय (नाक) भी भगवानकी सेवाकर भगवानके चरणकमलकी रज गन्ध ग्रहण करती है, ऐसी दशामें वे शवको ग्रहण नहींकर सकती हैं, जो कमलकी गन्धको सूंघता है. वह शव(मृतक, मुडदे)की गन्धको लेनेमें दूरसे ही शंका करता है अर्थात् नहीं ले सकता है, विशेष उत्तम गन्धको न जाननेवाले काक(काग, कौवा) आदि तो शवकी गन्ध लेनेसे शंकित नहीं होता है, बल्कि ले लेता है. इसलिये यह सर्व प्रकारसे भोगरूप नहीं है, केवल 'स्त्री' शब्द देनेका यह भाव है कि जो स्त्री पतिव्रता है उसका यहां ग्रहण नहीं किया गया है. कारणकि पतिव्रता तो धर्मकेलिये ही, भगवद्बुद्धिसे उसकी सेवा करती है, उस पतिव्रताको विषयभोगकी अपेक्षा नहीं है।।४५।।

इस प्रकार अन्यके भजन करने पर स्त्री तथा पुरुषकी निन्दाकर, अपनेको विषयाधिकार ही है, इस सर्वथा विषयोंके अभावसे तथा केवलमोक्षमें[१] अधिकार होनेसे अपनी प्रकृति भी व्यर्थ है, यों शंकाकर इसका समाधान 'अस्त्वम्बुजाक्ष' श्लोकसे करती है.

१.पुस्तकमें 'केवल मोक्षाधिकारात्' पाठ है और नीचे फुटनोटमें 'केवल मोक्षाधिकाराभावात्' पाठ है जिसका अर्थ 'केवल मोक्षके अधिकारके अभावसे'.

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रोमामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा।।४६।।

आपने कहा हम तो उदासीन हैं, हमें किसीकी अपेक्षा नहीं है, यह आपका कथन सत्य है और आप मुझे भी उत्कृष्ट नहीं समझते हो तो भी मैं तो चाहती हूं कि मेरा प्रेम आपके चरणारविन्दमें ही होवे कारणकि यह प्रेम ही मेरेलिए बड़ा लाभदायी है, इस जगतकी वृद्धिकेलिए जब रजोगुणकी भारी मात्राको लेकर मायारूप मुझ पर प्रेमसे देखते हो, तब मैं कृतकृत्य हो जाती हूं, यह ही मुझ पर

बड़ी कृपा है।।४६।।

'अम्बुजाक्ष' सम्बोधनसे यह कहा कि आप दृष्टिसे ही परम सुखदाता है, मेरा चरणारविन्दमें यानि आपमें अनुराग(प्रेम) होवे, दोनोंके अनुराग होनेसे ही दोनोंको स्पर्शादिसे सुख प्राप्त होता है, अनुराग न होवे तो सुख प्राप्त नहीं होता है, उसमें यदि भगवानका मुझ पर अनुराग न हो तब भगवानके पूर्णानन्द होनेसे मेरे स्पर्श आदिसे उत्पन्न सुखके अभाव होने पर भी किसी प्रकार क्षति नहीं हैं. मुझे तो मुझमें पूर्णानन्दत्वके अभावमें दूसरेके स्पर्शमें धृष्टता होती है, इसलिये चरणस्पर्श कोई विरोध नहीं, उसमें अनुराग हो 'अस्तु' यह 'लोट्'लकार प्रार्थनामें दिया है, अर्थात् रुक्मिणी प्रार्थना करती है कि मेरा अनुराग आपके चरणमें हो, प्रार्थना करनेके अधिकारका हेतु मेरा आपके साथ नित्य सम्बन्ध है, भगवानको तो अपेक्षा नहीं है, कदाचित् दूसरेका स्नेह प्रतिबन्धक होनेसे भगवानको अपेक्षित न होवे, इस कारणसे भगवानकी इच्छा न हो तो अनुराग भी न होगा, इसलिये ही प्रार्थना की है. भगवान् क्यों नहीं चाहता है? जिसका हेतु देती है वे अपनी आत्मामें ही रत हैं. इस कारणसे जैसे आत्माराम विषयोंकी अपेक्षा न कर उनसे सम्बन्ध नहीं करता है वैसे तुझसे भी सम्बन्ध न करेंगे. इस शंकाका समाधान करती है कि जैसे भगवान् आत्मामें रमण करते है. वैसे प्रपंचमें भी रमण करते हैं, तो प्रपंचका मूल स्वरूप तो मैं हूं सृष्टि और प्रलय दोनों सिद्ध है, मेरा संग किसी प्रकार भगवानको रमणादिमें बाध न करेगा, फिर शंका उठाती है कि यदि यों है तो संसारी और आत्मारामोंमें कौन विशेष है अर्थात् दोनोंमें क्या भेद है? इसका उत्तर देती है कि, सर्वात्मा भगवानका मेरेमें वा आत्मामें भेददृष्टि नहीं है. सर्व आत्मा है इसलिये सर्वत्र एक ही दृष्टि है, तब तेरा स्त्रीरूप पुरुषार्थ कैसे सिद्धकर सके? यदि कर सके तो स्त्रीत्व व्यर्थ हो जावे, यदि यों कहो तो, इसका उत्तर यह है कि, जब भगवान् जगतकी वृद्धिकेलिये रजोगुणकी मात्राको बढ़ाकर रचनाकी इच्छा करते हैं, तब मेरे सामने दृष्टि करते हैं, तब ही तो सर्व शक्तिरूप हम पर अनुकम्पा होती है, "**ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं ददाम्यहम्, सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत**" इस वाक्यानुसार, हम पर महती कृपा की जाती है, दृष्टिमात्रसे ही चित्शक्तिका आधान कहा है, सम्बन्ध तो भगवानके साथ नित्य है ही, इसलिये ईक्षण(दृष्टि) ही विशेष है।।४६।।

इस प्रकार उदासीन होते हुए भी अपनी सर्व पुरुषार्थकी सिद्धि कहकर

सुखकी प्रस्तावनामें भगवानने अचानक, जो यों कहा, उसका क्या कारण है? इस शंकाका उत्तर दो श्लोकोंसे देती है कि परीक्षाकेलिये भगवानने यों कहा है.

नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन।
अम्बायाइवहिप्रायः कन्यायाः स्याद् रतिः क्वचित्।।४७।।
व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।
बुधोऽसतीं न बिभृयात् तां बिभ्रदुभयच्युतः।।४८।।

हे मधुसूदन! आपके कहे हुए वचनमें झूठ है, यों नहीं कहती हैं; क्योंकि जैसे काशिराजकी कन्या अम्बाकी कुमारिकावस्थामें ही दूसरे पुरुष पर प्रीति हुई, जैसे किसी समय कुमार अवस्थामें भी कदाचित् किसी पुरुष पर प्रेम हो जाय, यह असम्भव नहीं है।।।४७।।

और कभी ब्याह होनेके अनन्तर भी बड़ी स्त्री व्यभिचारिणी हो जाय तो नये-नये पति पर उसका मन जाता है, इसलिए बुद्धिमानको चाहिए कि ऐसी व्यभिचारिणीको घरमें रखकर पालन न करें, यदि पालन करता है तो ऐसा पुरुष दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होता है।।४८।।

यथाश्रुत होते हुए भी आपका वचन मैं झूठा नहीं मानती हूं, झूठ उसे कहते हैं. जो असम्भव होवे, मधुसूदन होनेसे, सर्व अपेक्षारहित सर्वसमर्थको इस प्रकार क्लिष्टकर्म करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है, अतः इन वचनोंसे यह सूचना दी है कि परीक्षा करनेके अनन्तर ही सम्बन्ध करना चाहिये, अतः आपके वचनोंको मैं इस प्रकारकी सूचना समझती हूं, जिससे वे झूठे नहीं हैं, इस प्रकार सम्भावना है, जिसमें कारण स्त्रीपन है, क्योंकि बड़े कुलमें उत्पन्न काशिराजकी बेटी अम्बाकी साल्वमें रति हो गई थी, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका तीन काशिराजकी कन्याओंको भीष्म विचित्रवीर्यकेलिये लाया था, पश्चात् बड़ी अम्बाने भीष्मको कहा कि मेरा मन साल्वमें आसक्त है, जब भीष्मने उसने वहां भेजा, साल्व तो दूसरी ले आया था अतः इसको ग्रहण नहीं किया, जिससे वह लौटकर भीष्मके पास आई परशुरामके कहने पर भी भीष्मने ली नहीं, जिस कारणसे तपस्यासे देहका त्यागकर, शिखण्डी बन भीष्मको मारनेकेलिये उत्पन्न हुई, यह कथा महाभारतमें है, विवाहित भी व्यभिचारिणी होती है, क्योंकि पूर्वजन्मके संस्कारोंसे व ऐसे ग्रहोंके योगसे बहुत पुरुषोंसे सम्बन्धवाली होती है, इस कारणसे उसका मन नये-नये पुरुषको चाहता है, वह परीक्षाकर इस बातको

जानना चाहिये, परीक्षा करनेका प्रयोजन कहती है कि बुद्धिमानको चाहिये कि ऐसी व्यभिचारिणीका पालन न करे अर्थात् घरमें उसको न रखे, यदि उसको रखकर पालन करता है तो वह दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होता है, इस प्रकार उसको रखना बाधक है।।४८।।

रुक्मिणीने भगवानके वचनोंका दो प्रकारसे विवेचनकर यह सिद्ध किया कि भगवानका अभिप्राय मुझे त्यागनेका नहीं था किन्तु इस प्रकार परीक्षा करना योग्य था जिसको सुनकर भगवानने जान लिया कि रुक्मिणी अनन्यभाव रखती है, और दीनत्व तथा हीनत्वके प्रकाशनसे इसमें गर्व भी नहीं है, जिससे भगवान् प्रसन्न हो 'साध्व्येतदभिज्ञाय' श्लोकमें उसके वाक्यका अभिनन्दन करते है.

श्रीभगवानुवाच

साध्व्येतदभिज्ञाय त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि।।४९।।

श्रीभगवानने कहा कि हे साध्वी राजपुत्री! मैंने जो तुमसे हंसी की, उसका भावार्थ समझकर तुमने जो कुछ कहा, वह सर्व सत्य ही है।।४९।।

यह जो तुमने व्याख्यान किया वह ठीक ही है, हे साध्वी! तुम पतिव्रता हो. इसलिये ऐसा ही व्याख्यान करोगी, यह जानकर ही मैंने इस प्रकार वक्र उक्तिसे परिहास किया था. इस प्रकार व्याख्यान करनेकी सामर्थ्य तो राजपुत्री होनेसे तुममें उत्पन्न हुई है, साध्वी तो वचनोंके मर्मको इस प्रकार नहीं समझ सकती है. अतः मैंने जो अक्षर कहे उनका अक्षरशः अनुवादपूर्वक व्याख्यान तुमने यथार्थ किया है. इस प्रकारका भावार्थ उचित ही है, यदि यों अर्थ नहीं किया जाय तो अर्थ असम्बद्ध हो जाता।।४९।।

भगवानके प्रसन्न होनेसे रुक्मिणीने चरणारविन्दमें अनुराग मांगा था, उसके देनेके प्रस्तावमें आप 'यान् यान् कामयसे' श्लोकमें उससे भी विशेष देनेकी इच्छा प्रकट करते हैं.

यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय मानिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा।।५०।।

हे मानिनी! तुम जो-जो मुझ अकामसे चाहोगी, वह सर्व एकान्त भक्तिवाली जो तू है, उसकेलिए हे कल्याणी! नित्य ही हैं।।५०।।

मुझसे जिनका सम्बन्ध हो जाता है वे सर्व व्यवहार निष्काम हों चाहे

सकाम हों तो भी निष्काम हो ही जाते हैं, यह वर सिद्धके समान अनुवादसे वर दे दिया है, जिन कामनाओंकी पूर्ति मुझमेंसे करनी चाहती हो, यद्यपि मैं अकाम हूं किन्तु मुझसे ही चाहती हों. इस कारणसे तेरी विशेष इच्छा अनेक प्रकारकी होनेसे पूर्ण होगी किन्तु वह इच्छा स्वतः निष्काम बन जायगी, मानिनी! यह सम्बोधन मान तोड़नेकेलिये ही दिया गया है. यों सूचित करते हैं, मानवाली निष्काम नहीं बन सकती है, इसप्रकार वे तुम्हारी कामनाएं निष्काम हो जावेगी, यह समझानेके अनन्तर कहते हैं कि सब कामनाएं तुझे प्राप्त होगी, देनेके सिवाय, उनकी विद्यमानतामें कारण बताते हैं कि तू मेरी एकान्तिक अनन्यभक्ता है अतः जो मेरी अनन्यभक्ता होती है वह सब प्राप्त करती है अथवा जो एकान्तमें मेरा भजन करती है, वह भी जो कामसुख चाहती है वह प्राप्त करती है. 'तव' पदसे यह कहा कि मुझे अनुभव ही है, कल्याणी! सम्बोधनसे यह बताया कि तेरे स्वरूपकी योग्यता है तथा मुझसे विवाहित होनेसे तेरा भाग्य भी उत्तम है, स्वरूप समय केलिये नहीं किन्तु 'नित्यदा' यह पद छान्दस अर्थात् वैदिक है, सर्वदा हमेशा केलिये ऐसा भाग्य है।।५०।।

तब पतनक्रियासे जो हुआ वह भी 'उपलब्धं पतिप्रेम' श्लोकसे कहते हैं.

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता।।५१।।

हे निष्पापिनी! मैंने ऐसे वाक्य कहे जिनसे बुद्धि चलायमान हो जावे, किन्तु तेरी बुद्धि मुझमेंसे दूर न हुई, जिससे तुमने पतिप्रेम तथा पातिव्रत्य दोनों प्राप्त किए।।५१।।

मेरे वचनोंसे त्यागकी सम्भावना मात्र देख शरीरका त्याग करने लगी, जिससे पति प्रेम पाया, तथा पातिव्रत्य प्राप्त किया, व्रतका भंग होने पर मरणका ही निश्चय किया, 'च' शब्दका भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि मुझमें स्थिर हुई भी बुद्धि, मेरे स्पर्शसे जीवनको प्राप्त हुई और 'च' कहनेका दूसरा हेतु भी कहते हैं, जिस कारणसे मेरे वचनोंसे विचलित बुद्धि भी मुझसे दूर न गई, अर्थात् मुझे नहीं छोड़ा, सर्वथा अभाव तो दूर रहा।।५१।।

उस(रुक्मणी)ने जो विरक्तपनसे भक्तिमार्गानुसार भक्तिको स्वीकारकर कादाचित्क कामका समर्थन किया, वह ही उचित है, न कि लौकिककी भांति मेरा भजन उचित है, इसलिये उसने जो कहा उसमें अपनी सम्मति प्रकट करते हैं

और विपरीतमें बाधकता दिखाते हैं 'ये मां भजन्ति' श्लोक से.

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया।।५२।।

जो कामी पुरुष, मोक्षके स्वामी मुझको, तप तथा व्रतों द्वारा इसीलिए भजते हैं कि दम्पतीवत् सुखभोगकी प्राप्ति होवे तो वे मेरी मायासे मोहित हुए हैं, यों समझना चाहिए।।५२।।

लोकमें दाम्पत्यसे जिस प्रकार जैसा सुख होता है, भक्तिमार्गमें वैसा सुख नहीं है अन्यत्र भगवद्भजन लोक सिद्ध नहीं है, आप कर्ममार्गमें उसको कहनेकेलिये साधन कहते हैं 'तपसा व्रतचर्यया' तपस्या पुरुषोंका, व्रतचर्या स्त्रियोंकी, भगवानको भी इस प्रकार वैसे भजते है, ठंडी हो, इसलिये कोई अग्निका ताप नहीं लेता है, इस विषयमें कहते हैं कि जो कामको ही पुरुषार्थ मानते हैं, और भगवान् तो मोक्षके दाता है, इस प्रकार सेवक और सेव्य दोनों परस्पर विरुद्ध देखनेमें आते हैं, फिर भी, जो भजन सिद्ध हुवा दीखता है, वह मायासे मोहित होनेके कारण है।।५२।।

साधारण सेवकोंकी स्थिति कहकर अब फिर कहते हैं कि जो विशेष प्रकारसे मुझ(भगवान्)को प्राप्त हुवे हैं, यदि वे भी सकाम होने लगे तो समझना चाहिये कि कालसे उनकी बुद्धि नाश हो गई, यों कहकर उनकी 'मां प्राप्य' श्लोकसे निन्दा करते हैं.

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः।।५३।।

हे मानिनी! जिसमें मोक्ष तथा सब सम्पदाएं भी रहती हैं, ऐसे मुझे प्राप्त करके भी जो लोग लौकिक सम्पदाएं मांगने लगते हैं, उनको मन्दभागी समझना चाहिए; क्योंकि विषयसुख तो नरकमें भी मिलता है, विषयोंमें आसक्त होनेसे उनको नरक ही सरलतासे प्राप्त होगा।।५३।।

जिससे मोक्षरूप सम्पदा प्राप्त होती है ऐसे मुझसे तुम वह भी नहीं मांगती हो, कारणकि तुझमें मान मौजूद है, यह 'मानिनि' सम्बोधनसे सूचित किया है, और जो केवल लौकिक सम्पदाएं मांगते हैं, वे तो मन्दभाग्यवाले हैं, जैसे अभागेको मणि भी प्राप्त हो, तो उसको पत्थर समझ ठुकराता है, इसलिये यह मन्दभाग्यका लक्षण है, इसी प्रकार मोक्षदाता मुझसे मुक्तिकी प्रार्थना न कर,

उसको ठुकराके नाशवान् लौकिक सम्पदाएं मांगते है, जिससे वे मन्दभागी है विषय, स्त्री, धन पुत्रादिकी प्राप्ति भी दुर्लभ है उनके मांगनेवाले अभागे कैसे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि ये पदार्थ नरक आदिमें भी मिलते हैं, इनका अभाव कुत्ते आदि योनियोंमें भी नहीं है, उनको भी विषयोपभोग करते हुए देखा जाता है, विषयोंसे सम्बन्ध होने पर दुःख प्राप्ति तो नियत है अर्थात् अवश्य होती ही है स्वरूप वा अधिक वह तो अप्रयोजक है, यदि कहो कि जहां इस प्रकार सम्पत्ति सुख मिलता है तो वह नरक भी अच्छा है, वहां कहते हैं कि नरक तो सरल स्वयं प्राप्त होता ही है, जिसकेलिये तपस्या वा मेरे भजन करनेकी आवश्यकता नहीं है, अतः जो पदार्थ बिना क्लेशके प्राप्त होवे उसके वास्ते क्लेश करना भी मन्दभाग्यपन है, जो पूर्ण है विशेष देनेवाले हैं उनसे स्वल्पकेलिये प्रार्थना करनी मन्दभाग्य ही है, अतः यों न करना चाहिये, इस प्रकार उपदेश है।।५३।।

उस(रुक्मिणी)ने जो कहा आप मुझे देखते हैं, यह तो मेरा विशेष अनुग्रह है, इसलिये उसका अभिनन्दन 'दिष्ट्या' श्लोक करते है.

दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो ह्यसुंभराया निकृतिंजुषः स्त्रियाः।।५४।।

हे गृहेश्वरी! संसारसे छुड़ानेवाली, निष्काम मनकी वृत्ति मुझमें बार-बार अर्पणकर लगाई है, यह बहुत अच्छा किया, यों करना प्रसन्नताका विषय है, खलजनोंकी चित्तवृत्ति मुझमें लगनी बहुत कठिन है; क्योंकि उनका अभिप्राय दोषोंसे भरा हुआ है तथा प्राणादिकके पोषण करनेवाले विषयोंके पोषक वृत्तिवाली वे स्त्रियां हैं।।५४।।

तूने मुझमें कई बार अपनेको अर्पणकर अपना अनन्य प्रेम प्रदर्शित किया है. वह बहुत प्रसन्नताका उचित कार्य है, क्योंकि ऐसी वृत्ति संसारसे छुड़ानेवाली है. हे गृहेश्वरी! यह सम्बोधन कहकर सूचित किया है कि लोक प्रसिद्ध सांसारिक सुख तो तुझे प्राप्त ही है, 'अनुवृत्ति' शब्दका भाव प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि भगवानने इससे यह सिद्ध किया है कि मैं उदासीन हूं, तो भी तुमने सर्वप्रकार मुझमें अपनेको बार-बार अर्पणकर अपनाया है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जैसे पहले पत्र लिखकर अपनी देहको मुझे अर्पण कर दिया, पश्चात् रुक्मिवध होने पर प्रार्थनासे 'वाणी'को अर्पण किया. अब मूर्च्छासे मनको समर्पण किया और अपने अभिप्रायको प्रकट करनवाले वाक्योंसे

सर्वसमर्पण किया, ईश्वरसे भिन्न स्थितिमें संसार होता है जिसका उत्तर 'ईशाद् अपेतस्य' श्लोकमें कहा जायगा, अतः यह तुम्हारी चित्तवृत्ति संसार छुड़ानेवाली है, यदि कहो कि इसमें क्या आश्चर्य है? पत्नी इसी प्रकार अर्पण करती है जिसके उत्तरमें कहते हैं कि दुष्ट स्वभाववाले मत्सरतासे अन्योंके कार्यको नष्ट करनेवाले, रुक्मि प्रभूति जो खल है, वे यों नहीं कर सकते हैं, तेरा अन्तःकरण भी यों करनेमें बाधक नहीं हुआ किन्तु जिनकी प्रकृति दुष्ट है उनके अन्तःकरणमें मेरेलिये अनुवृत्ति बिलकुल कठिन है. उसमें भी यह तथा वैसी होनी तो सम्भव ही नहीं, क्योंकि वे प्राणोंको ही पोषण करनेवाली है, जिससे वे नरककी सेविकाएं है, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियां और शरीरके दोषोंका प्रत्येकमें होनेसे भी आप जैसी वृत्ति स्त्रियोंकी होनी कठिन है, तो यदि सब दोषपूर्ण हो तो वहां क्या कहा जावे, इस ही उपपत्तिको 'हि' निश्चयवाचक शब्द कहता है।।५४।।

ऐसी स्त्रियां तो बहुत ही है किन्तु स्त्रियोंमें यह उत्तम है इसलिये 'न त्वादृशीं' श्लोकसे इसकी प्रशंसा करते हैं.

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।
प्राप्तान्नृपानविगणय्य रहो अहो मे प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य।।५५।।

हे मानिनि! यद्यपि घरोंमें बहुत स्त्रियां है, किन्तु तेरे समान प्रेमवाली दूसरी कोई नहीं है कारण जिस(तुम)ने अपने विवाहकालमें आए हुए राजाओंको ध्यानमें भी न लाकर अर्थात् तुच्छ मानकर, केवल मेरे यश सुननेके कारण मुझको प्राप्त करनेकेलिए गुप्तरूपसे ब्राह्मण भेज मुझे बुलाया।।५५।।

प्रेमवाली स्त्री मिलनी दुर्लभ है. स्त्री लौकिक धर्मोंमें आसक्त होकर भी, परमप्रेमसे युक्त हो अपनेसे भी पतिमें अधिक स्नेह करे ऐसी स्त्री मिलनी बहुत कठिन है, मेरे अनेक प्रकारके गृहस्थाश्रमके घर हैं उनमें तेरे समान कोई स्त्री नहीं देखता हूं जिसका प्रमाण यह है कि तू मानिनी है, जिससे अल्प भी अपकीर्ति सहन नहींकर सकती है एवं इससे यह बताती हो कि अन्यमें मेरी आसक्ति नहीं हैं यदि कहो कि आपने यह कैसे जाना? इसका उत्तर यह है कि जिस (तुमने अपने विवाहके समयमें पाये हुए शिशुपाल आदि राजाओंको सर्व प्रकार ध्यानमें न लाकर तथा तुच्छ समझकर गुप्तरीतिसे मेरे पास मुझे बुलानेकेलिये ब्राह्मण भेजा, मेरे साथ कोई परिचय न था, केवल सत्पुरुषों द्वारा की हुई मेरे गुणोंकी कथा सुनी थी, यों करना आश्चर्य है, लोकमें इस प्रकार कहीं भी नहीं हुआ है, स्वयंवरमें

वरण करना तो उचित है न कि इस प्रकार वरण करनेकी रीति है. दूसरी सब स्त्रियोंमें लोकरीतिसे लाया हूं इससे तुझसे जिस प्रकार सम्बन्ध हुआ है वैसा दूसरियोंसे नहीं हुआ है।।५५।।

अपराधका सहन भी जैसा तुमने किया है वैसा दूसरियोंने नहीं किया है, यह 'भ्रातुर्विरूप' श्लोकमें कहते है.

भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम्।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ।।५६।।

तेरे भाईको युद्धमें जीतकर विरूप किया, तथा अनिरुद्धके विवाहमें जुआरियोंकी गोष्टीमें उसको मार डाला, यह असह्य दुःख हृदयमें उठते हुए भी केवल हमारे वियोगके भयसे सहनकर रही हो, उसकेलिये हमको कुछ भी नहीं कहा, जिससे हमको तुमने जीत लिया है।।५६।।

विवाहके समय युद्धमें हारे हुए तेरे बड़ेभाईका मुण्डन किया, यद्यपि यह कथा प्रद्युम्नकी उत्पत्तिसे पहलेकी ही है, नहीं तो भगवान् अन्य भजन नहीं कहते, जिसके पुत्र–पौत्रादि ही उसको यों नहीं कहा जा सकता है, प्रथम हुए मिलापके समय ही यों कहा जा सकता है, सर्वप्रकार, हृदयके भावोंके न जाननेकी दशामें, उसके भी पतनका सम्भव है, न कि निरन्तर प्रवृत्ति हो जाने पर, अनिरुद्ध विवाहके समय जुआकी गोष्टी प्रसंगमें उसका वध हुआ वह उत्तराध्यायमें कहा जाएगा, तो भी जैसे उसने आर्षज्ञानसे सब निरूपण किया, वैसे भगवान् भी उसको वैसी आप ज्ञानवाली समझकर ही. भावी अर्थको भी होते हुएकी तरह निरूपण करते हैं, भूत प्रत्ययमें तो 'लङ्'का प्रयोग हुवा है, जैसेकि 'छन्दसि लुङ् लङ् लिट' इस प्रकार दश लकारोंके अर्थमें होते हैं, इसलिये आवृत्तिसे योजनामें द्वितीय वाक्यमें भविष्यदर्थमें जानना है इन दोनों कारणोंसे उत्पन्न दुःख इस प्रकार असह्य है किन्तु हमारा सम्बन्ध टूट जायगा, इस भयसे उत्पन्न दुःख भ्राताके कारण हुए दुःखसे भी तूने विशेष समझा है इसलिये तू ही सबसे उत्तम स्त्री है. 'च' पदसे यह बताया है कि प्रद्युम्न विवाहादिमें भी उसकी अब गणनादि की है, इन सर्वप्रकारके कर्मसे उत्पन्न दुःख सहन करना अशक्य हैं, बलभद्रके उपदेशसे विशेष उत्पन्न हुआ, यों जाना जाता है, एक ही क्रियाके कहनेसे दूसरा भी वैसा ही है, अशक्य सहने जैसे दुःखको सहन करनेसे तूने हमको जीत लिया है, हमने तेरी जय भी अंगीकार की और त्वदीयत्व भी मान लिया।।५६।।

तेरा एक दूसरा चरित्र, अनन्य एवं अनुपमेय होते हुए भी तथा जयादिके अंगीकार करने पर भी ऐसा है, जिसका बदला चुकाया नहीं जा सकता है, जिसका निरूपण 'दूत' श्लोकमें करते है.

दूतस्त्वयात्मलभने सुविविक्तमन्त्रः प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ।।५७।।

मेरी प्राप्तिकेलिये तूने मनसे विचारपूर्वक गुप्त मन्त्रणा की, वह दूत द्वारा मुझे कहलाई, मेरे आनेमें विलम्ब होने पर यह सब शून्य देखने लगी, तथा उस समय यह विचार किया कि अब इस शरीरका त्याग ही करना चाहिये, कारणकि यह दूसरेके योग्य नहीं है मुझमें तेरी ऐसी अनन्यता तुझमें ही है, हम तो तेरी श्लाघा(प्रशंसा)कर तुझे प्रसन्नकर सकते हैं।।५७।।

मेरी प्राप्तिकेलिये दूतको गुप्त मन्त्र देकर मेरे पास भेजा, यों करनेसे तुमने मुझमें सिद्धवत् विश्वास पहले ही प्रकटकर दिखाया है मेरे आनेमें विलम्ब देख इस जगतको शून्य देख, यों विचार करने लगी कि यह देहत्याग करने योग्य है, कारणकि मेरे सिवाय दूसरेके योग्य यह अंग नहीं है, ये सब प्रथम ही विचारकर दूत भेजा था. इस प्रकार प्रेम तुझमें ही रहे, 'तिष्ठेत' यह क्रिया आज्ञा अर्थमें दी हुई है, आपने जो इतना ऐसा विशुद्ध प्रेम दिखाया है उसका बदला हम दे नहीं सकते ऐसा प्रेम प्रयोजक है ऐसी शंकाके निराकरणकेलिये ही कहा है कि यह तुझमें ही है, अन्यमें नहीं हो सकता है, हम तो इसकेलिये तुम्हारी बड़ाई ही कर सकते हैं, वास्तवमें तो इस प्रेम व्यक्त करनेसे हम तुम्हारे ऋणी हैं, यों कहनेका यह भाव है।।५७।।

इस प्रकार सान्त्वना देकर अब विषयका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि दूसरियोंमें जो जिस प्रकारका भाव है वह दिखाते हैं 'एवं' इन श्लोकोंसे.

श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसंलापैर्भगवान् देवकीसुतः।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्।।५८।।
अथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव।
आस्थितो गृहमेधीयान् धर्मान् लोकगुरुहरिः।।५९।।

श्रीशुकदेवजीने कहा कि देवकीपुत्र भगवान् यद्यपि आत्माराम हैं, तो भी मनुष्यलोककी लीलाका अनुकरण करते हुए, सुरति सम्बन्धी हंसीकी बातोंसे

लक्ष्मी(लक्ष्मीकी अवतार रुक्मिणी)से रमण करने लगे।।५८।।

वैसे ही अन्य घरोंमें भी दूसरी रानियोंसे जैसे एक गृहस्थी, गृह सम्बन्धी धर्मोंका आचरण करता हो, वैसे आचरण करते हुए जगतके गुरु प्रभु हरि विराजते थे।।५९।।

जिनसे सुरत(गाढ प्रेम) बढ़े वैसे सुरत योग्य वचन कहने लगे, 'भगवान्' शब्दसे आपमें लीलाकी योग्यता कही है, 'देवकीसुत' नाम कहकर यह सूचित किया है कि स्त्रियोंके प्रिय जो अर्थ है उसमें रुचिवाले हैं, कारणकि भक्तोंके हितको आप ही एक सिद्ध करनेवाले हैं इसलिये यों करते हैं. अपनेमें ही रमण करनेवाले आत्माराम होकर भी लक्ष्मीकी अवतार रुक्मिणीके साथ रमण करने लगे, न कि केवल शब्द ही कहकर निवृत्त हो गये, आप परब्रह्म है, इसलिये आपको यों करना उचित नहीं, जिसका उत्तर यह है, नरलोकका अनुकरणकर दिखाते हैं, यदि यों नहीं करे तो मनुष्योंको यह प्रतीति न होवे कि यह मनुष्य हैं अब अन्याओंके पास यह प्रकार नहीं है, वह कहते हैं कि वह दूसरा प्रकार जो जिसके योग्य थी वहां वैसी लीला करते थे, अन्य घरोंमें प्राकृत गृहस्थीकी तरह अनुकरण करते हुए गृहमेधीय लौकिक व वैदिकधर्मोका पालन करते हुए विराजते थे, लौकिककर्म विडम्बनाकेलिये करते थे वह पहले ही कहा है, वैदिककर्मोके करनेका विशेष कारण बताते हैं कि आप लोक 'गुरु' हैं योंकर लोकको शिक्षा देनी है, वैसे आकर सर्वकर्म करनेमें हेतु बहुत काल रहता है एवं 'हरि' है जिससे सबके दुःख दूर करते हैं।।५९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (उत्तरार्ध) अध्याय ५७ की श्रीवल्लभाचायचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाके राजस फल अवान्तर प्रकरणके चतुर्थ अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ५८

भगवानकी सन्ततिका वर्णन तथा रुक्मीका मारा जाना

द्वादशे रमणं प्राह पुत्रपौत्रयुतस्य हि।
प्रसङ्गान् मारणं चोक्तं रुक्मिणः प्रतिबन्धनुत्।।का.१।।

पुत्र तथा पौत्रवालेका रमण १२अध्यायोंमें कहा है और प्रसंगसे रुक्मीका वध भी कहा है; क्योंकि रुक्मी भजनमें प्रतिबन्ध करनेवाला था, कारणकि वह अविद्याके पांचपर्वोमें अज्ञानरूप पर्व था, इसलिए उसके मारनेसे भजनमें प्रतिबन्ध टल गया।।१।।

भगवान् केवलं लोके क्रीडार्थं न समागतः।
किन्तु सर्वोद्धारणाय तदुद्वाहेऽपि मारणम्।।का.२।।

भगवान् लोकमें केवल क्रीड़ाकेलिए नहीं, किन्तु सबका उद्धार करनेकेलिए आए है, इसलिए विवाहका समय होने पर भी रुक्मीको मार डाला।।२।।

कलौ शुद्धक्षत्रियो हि न स्थाप्य इति निश्चयात्।
पापं विवाहमकरोत् फलं तस्याप्यसूचयत्।।का.३।।

कलियुगमें शुद्ध क्षत्रिय नहीं रहे, यों निश्चय करनेसे पापविवाह किया, जिसका फल भी रुक्मीके वधसे सूचितकर दिखाया।।३।।

देवकीप्रीतये वंशः स्थाप्य एवेति तत्तथा।
तदानीं सर्वधर्माणां सम्यक् स्थितिनिरूपणे।।का.४।।

उपरोक्त विवाहसे अशुद्धको सम्पादनकर अर्थात् शुद्ध क्षत्रिय न रहे, यह कार्य पूर्ण करके भी फिर वंशकी स्थापना क्यों की? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि देवकीको प्रसन्न करनेकेलिए भगवत्सदृश सुतोंको स्वीकार किया, जिनसे वंश स्थापना की, यों करनेसे सर्वधर्मोंकी स्थितिके निरूपणमें योग दिया।।४।।

'दशास्यामि'ति वाक्येन दशपुत्रनिरूपणम्।
यथोक्तं श्रुतिसिद्धं हि कर्तुं नान्यः क्षमो भवेत्।।का.५।।
लोकवेदौ पुरस्कृत्य रमणं तत्तथोच्यते।

'दशास्यां' इस वाक्यसे दस पुत्रोंकी उत्पत्तिका निरूपण किया, जैसे कहा वैसे श्रुतिसे सिद्ध कार्य अन्य कोई करनेमें समर्थ नहीं है।।५।।

लोक और वेदके अनुसार रमण किया, वह उसी तरह कहा जाता है।।

कारिकार्थ पूर्ण.

प्रथम लौकिक रमण कहा अब वैदिक रमण 'एकैकशः' श्लोकसे लेकर 'कथं रुकम्यरि पुत्राय' तक कहते है.

श्रीशुक उवाच

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशाबलाः।
अजीजनन् अनवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा।।१।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि एक-एक रानीमेंसे श्रीकृष्णको दश-दश पुत्र हुए, जो सर्व प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रसे न्यून नहीं थे।।१।।

धर्म दो तरहका है, एक शास्त्रमें जो आज्ञा है उसको करना, दूसरा जिसका निषेध है, उसको न करना. 'त्रयीद्विषो हन्तव्या' इति 'नोपेक्षितव्या' इति. तीन प्रकारके शत्रु हैं उनका नाश ही करना चाहिये, कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अतः रुक्मी प्रभृति दैत्योंके वधका भी निरूपण आगे किया है, वहां प्रथम 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इस स्त्रीमें दश पुत्रोंका आधानकर अर्थात् इस स्त्री द्वारा दश पुत्र पैदाकर, इस वेद वाक्यानुसार प्रत्येक स्त्रीसे दश पुत्र उत्पन्न किये, न कम और न विशेष, अपने प्रिय कृष्णकी अबला प्रत्येक स्त्रीने पतिकी इच्छानुसार दश-दश पुत्रोंको जन्म दिया, इससे यह जताया कि उन स्त्रियोंमें पुत्र उत्पन्न करनेको भगवानके सर्वभाव है, अतः उन पुत्रोंमें सब श्रीकृष्णकी पूर्ण शरीर इन्द्रिय आदि सम्पदा आयी, जिससे इन अबलाओंका ही उत्कर्ष कब हो, इसकी निवृत्तिकेलिये कहा कि इनमें भगवानके सर्वभाव थे अतः इनका हमेशा उत्कर्ष है।।१।।

पांच श्लोकोंसे प्राकृतपन कहते हैं.

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम्।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वम् अतत्तत्त्वविदः स्त्रियः।।२।।

श्रीकृष्णचन्द्रका घरसे बाहर न जाना और वहां ही स्थित रहना देख, प्रत्येक स्त्री श्रीकृष्णको अपना ही प्यारा पति समझने लगी, कारणकि वे तत्त्वको नहीं जानती थीं।।२।।

पहले तो उनको अभिमान होने लगा. कारणकि उन्होंने देखाकि श्रीकृष्ण घरमें ही रहते हैं बाहर दूसरीके यहां जाते ही नहीं है, भगवानसे सम्बन्ध होने पर भी ऐसा दोष उनमें उत्पन्न हुआ जिसका कारण राजकन्याओंमें उत्पत्तिका हेतु कारण

था, अच्युतका सुरत सम्बन्ध अच्युत होनेसे उसका स्वतः विच्छेद नहीं, अतः उन्होंने अपनी इच्छाकी पूर्ति करनेवाला समझा, यों तो भगवान् व्यापक हैं जिससे वे कहीं न जाते हैं न आते हैं, फिर उन्होंने ऐसे क्यों समझा कि कहीं गये नहीं, हमारे ही यहां हैं. लौकिकदृष्टिसे यों समझा, कारणकि तत्त्वविदा नहीं है, अतः घरोंमें ही लौकिककी भांति स्थित समझा, भगवानके गुणत्रयके कारण भगवानको अपना ही प्रिय श्रेष्ठ समझने लगीं. यह तो सत्य ही है, कि आत्मा श्रेष्ठ ही है, भगवान् भी आत्मा ही हैं, यदि यों कहो कि ऐसा समझनेमें क्या है? इस पर कहते हैं कि भगवान् आत्मा होनेसे प्रेष्ठ हैं किन्तु ये इस तत्त्वको नहीं जानती हैं, अर्थात् न भगवानके अभिप्रायको और न वस्तुके तत्त्वको जानती है, लौकिकदृष्टिसे लौकिकवत् प्रेष्ठ कहती हैं क्योंकि स्त्रियां हैं।।२।।

उसके सम्बन्धसे कदाचित् भगवानको भी उसके धर्मका सम्बन्ध हो जाये तो? इस शंकाका 'चार्वब्जकोश' श्लोकसे निराकरण करते हैं.

चार्वब्जकोशवदनायत बाहुनेत्र सप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पैः।
संमोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैर्विभ्रमैः समशकन्वनिता विभूम्नः।।३।।

भगवानके सुन्दर कमलकोशके सदृश मुख, लम्बी भुजा और विस्तीर्ण नेत्र एवं प्रेम सहित हास्यरसके साथ जो अवलोकन तथा मनोहर भाषण, इन सबसे, ये स्त्रियां मोहित हो जानेसे अपने अनेक भ्रूविलासोंसे भगवानके मनको जीत न सकी।।३।।

भगवानके धर्मोंसे मोहित हुई स्त्रियां भगवानको मोहित न कर सकी, ये स्त्रियां वनिताएं हैं अर्थात् संसाररूप वनमें घूम रही हैं अर्थात् संसारिणी हैं, किन्तु भगवान् विभूमा है अर्थात् जिनमें बहुतायत नहीं है, एकरस ही है और सर्वका निवास है किन्तु स्त्रियां प्रायः संकुचित हैं, उनको मोहित करनेवाले भगवानके जो छः गुण हैं, वे कहते हैं, सुन्दर कमलके कोशकी भांति मुखारविन्द, बड़ी भुजाए, वैसे नेत्र, प्रेमपूर्वक हास, रसपूर्ण दृष्टि, सुन्दर व मनोहर कथाएं इन छहोंको सुन्दर कमलकी उपमाका तात्पर्य है कि ये उसकी तरह पूर्णरस देनेवाले हैं, यों प्रकट करनेकेलिये हैं. 'आयत' पद देकर यह बताया कि आलिंगनकी क्रिया पूर्ण हुई है, नेत्र पृथक् देकर सौन्दर्य प्रकट किया, वे नेत्र स्वरूपसे भी रस प्रकट करनेवाले हैं, ये तीनों कायिक रसकेलिये हैं अब प्रेम, हास, ईक्षणसे तीन मानसिक रसकेलिये कहे हैं. स्नेह न हो तो हास्य और ईक्षण भी रसाल नहीं होते हैं इसलिये इन

तीनोंको साथमें कहा है, हासरसको प्रकट करता है, रससहित देखना मोहित करनेवाला है, सुन्दर मनोहर वचन, अपने पक्षकी स्थापना और पर पक्षकी अवहेलना करते हैं, वे भी तीन प्रकारके है, इस प्रकार काया, वाणी तथा मनसे मोहित हो जानेसे वे निर्बल हो गई हैं जिससे भगवानके मनको जीतनेमें समर्थ नहीं हैं इसलिये भगवानका मन उनमें आसक्त नही होता है।।३।।

क्षोभको भी उत्पन्न करनेमें समर्थ न हुई यह कहते हैं:

स्मायावलोक लवदर्शनभावहारि भ्रूमण्डलप्रहित सौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः।।४।।

मदयुक्त दृष्टिसे भावको हरण करनेवाले भ्रुकुटि मण्डलसे प्रेरित सुरत सम्बन्धी विचारों प्रगल्भ जो कामदेवके बाण हैं और शास्त्र प्रसिद्ध कामकी उत्पत्तिके जो उपाय है, उनसे ये सोलह हजार स्त्रियां भगवानके मनको सहस्र प्रकारसे भी मोहित न कर सकी तथा कपट धर्म तरीकोंसे भी मोहित करनेमें समर्थ नहीं हुई।।४।।

आसक्ति अन्य वस्तु है और मनका क्षोभ दूसरी वस्तु है कदाचित् वश करनेकेलिये किसी तरह अपने मोहको भी रोककर, विशेष समय ठहरकर भावोंको उत्पन्न करती थीं, तो भी भगवानके मनमें क्षोभ उत्पन्न न करा सकी, इसका निरूपण करते हैं, गर्वसे देखने लगी, उससे सम्बन्धमें विलम्बका सूचन करती है, मानका उपमर्दन करनेकेलिये, उपेक्षाका बाध करनेके वास्ते लेशमात्र दर्शन करती हैं, इस प्रकार देखनेसे आशय यह था कि भगवानका भाव हममें आसक्त हो जावे, वैसे ही कामशास्त्रमें सिद्ध भ्रूमण्डल करने लगी, उन तीन भावोंसे चेष्टाएंकर दिखाई और सुरतको जगानेवाले गुप्त भाषण भी किये, जिनसे वे चेष्टाएं बलिष्ठ होने लगीं, इससे दृष्ट तथा अदृष्ट साधन निरूपणकर बताये, समस्त पत्नियां संकोचको त्याग प्रतिबन्धरहित होकर सुखपूर्वक मनको क्षोभकरनेके कार्यमें प्रवृत्त हुई, स्त्रियां सोलह हजार थी और मन १६कलाका था, उसको मोहित करनेमें समर्थ थी, क्योंकि इनके पास अनंगके बाण जिनसे जय होती है, वे हैं. मन्त्रसहित बाण, कार्यको सिद्ध करनेवाले होते हैं यह ब्रह्मास्त्र आदिके कार्योंसे प्रसिद्ध ही है, दृष्ट द्वारा इकट्ठे किये हुए धनुष, तथा दृष्टि और मुष्टिका एकत्व दिखानेकेलिये लेशमात्र देखना कहा है, गर्वसे देखनेका भाव यह है कि इस प्रकारकी दृष्टिसे वीररसका आविष्कार होता है. इस प्रकार समस्त

साधनोंकी सम्पत्तिसे युक्त भी बाणोंसे जिसके मन और इन्द्रियको मथन करनेकेलिये, अथवा ग्लानिसे युक्त एवं अस्थिर करनेमें समर्थ न हुई सरल स्वाभाविक साधनोंकी ऐसे कार्यमें जय नहीं होती है, कठिन दुर्गोंमें स्थित राजधर्मोंमें कापट्यसे कार्य सिद्ध होता है, किन्तु यहां कपटधर्मोंसे भी मनको वश न कर सकीं।।४।।

इस प्रकार स्त्रियोंके दोषोंके सम्बन्धसे भगवानमें दोषोंका प्रवेश न हुआ. यह प्रतिपादन, भगवानके सामर्थ्यसे उनमें धर्म स्थापित हुआ, इसलिये पुत्रोंका उत्पादन कहकर 'पतिमेकादशं कृधीति' इस वेदवाक्यके अनुसार भगवानकी सेवा करने लगीं, जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकोंसे करते हैं.

इत्थं रमापतिम् अवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग–हासावलोक–नवसङ्गमलालसाढ्यम्।।५।।
प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच ताम्बूलविश्रमण वीजनगन्धमाल्यैः।
केशप्रसार–शयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्।।६।।

ब्रह्मादिक भी जिनकी पदवीको नहीं जानते ऐसे लक्ष्मीपति भगवानसे पति पाकर, ये स्त्रियां निरन्तर बढ़ते हुए प्रेमसे इस प्रकार स्नेहसहित हास्य, कटाक्ष और नवसंगममें, उत्सुकता इत्यादि विलासोंका सेवन करती थीं।।५।।

यद्यपि प्रत्येकके पास सैकडों दासियां थीं, तो भी सन्मुख जाना, आसन देना, श्रेष्ठ पूजन करना, पाद धोना, बीड़ा देना, हवा करनी, चन्दन चरचना, पांव चांपना, पुष्पोंकी माला पहिराना, केश संवारना, सेज संवारना, स्नान करवाना और भोजन करवाना इत्यादि उपचारोंसे वे भगवानकी दास्यभावसे सेवा करती थीं।।६।।

इन दो श्लोकोंकी व्याख्या पहले विवाह प्रसंगमें की है, विवाह, प्रसंगमें कहे हुए भी यहां फिर अवसरानुसार वे ही कहे हैं, इससे इन दोनोंका अर्थ वही है जो वहां पहले कर दिया है, भ्रमके मिटानेकेलिये कुछ विशेष पाठ कह दिया है जैसाकि 'लालसाढ्यम्' प्रथम अनुराग आदि स्त्रियोंमें स्थित थे, अब भगवानमें है अभिमानके साथ देखना मानस है यों ही अवलोकन ऐन्द्रिय है, नवसंगम कायिक है, इन तीनोंसे जो लालसा उत्पन्न हुई, उसको जो इच्छा विशेष उससे युक्त भगवान् हैं, स्त्रियोंमें निष्ठ इन धर्मोंकी भावना भगवान् अपनेमें करते हैं, इसलिये ये धर्म भगवन्निष्ठ हैं, सामने जाना आदि धर्मोंसे वे स्त्रियां अपना दासभाव सिद्ध

करने लगी, उनको अपेक्षित कामकृत सेवा थी, दास्य तो साधारण, यह विशेष है, स्त्रीत्व, और भक्तत्व इन दोनोंसे देह तथा अन्तःकरणको कृतार्थकर लिया।।६।।

शास्त्रविधि प्रधान है इसलिये विधिसे सिद्ध आठ पटरानियोंके पुत्रोंकी गणना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान् धर्मकी रक्षाकेलिये इतने रूप हुवे, उनके नाम ग्रहण करनेसे राजाके पापोंका क्षय होगा, जिसकेलिये प्रसिद्ध नाम निरूपण करते हैं.

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते।।७।।

भगवानके उन स्त्रियोंसे दश-दश पुत्र हुए, प्रथम कही हुई आठ पटरानियोंके जो प्रद्युम्न आदि पुत्र हैं, उनके नाम तुम्हें कहता हूं।।७।।

उन कृष्णकी सर्व स्त्रियोंसे दश-दश पुत्र हुए, उनमेंसे जो पहले कही हुई आठ रुक्मिणी प्रभृति पटरानियां जिनका विवाह विधिवत् हुआ है, उनसे उत्पन्न प्रद्युम्न आदि दश पुत्रोंके नाम तेरे हितकेलिये कहता हूं. अन्य जो कामकृत हैं, इसलिये उनके नाम नहीं कहता हूं।।७।।

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान्।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः।।८।।
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यानवमाः पितुः।।९।।

रुक्मिणीसे चारुदेष्ण, सुदेष्ण, चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचार और चारु; ये दश हरिके पुत्र वीर्य(पराक्रम)वाले थे तथा भगवानसे गुणोंमें न्यून नहीं थे।।८-९।।

प्रद्युम्नके अनन्तर चारुदेष्ण आदि नव पुत्र हुए. नामोंके अनुसार ही उनमें गुण थे, 'वीर्यवान्' विशेषणसे यह बताया है कि ये सब सुन्दर एवं शूरवीर थे. इनकी वीरतामें शंका करनी ही नहीं चाहिये, प्रत्येकके पीछे 'च' पद देकर यह जताया है कि पूर्वमें कहे वीर्य आदि सब धर्म उनमें है, अन्तमें कहे हुए 'च'का आशय कन्या समुच्चयकेलिये है कोई कहते हैं कि सब 'च' कन्या समुच्चयकेलिये है अर्थात् जिसके बाद कन्या हुई वहां 'च' दिया है. वीर्यवान् भी सबका विशेषण इस प्रकार कोई समझे उस शंकाके मिटानेकेलिये 'अपर' विशेषण पृथक् दिया है, जिसका अर्थ है सबसे श्रेष्ठ, अर्थात् वीर्यवान् विशेषण विशेष प्रद्युम्नकेलिये ही

है, 'दशम' अर्थात् प्रद्युम्न पहला एवं सबसे उत्तम वीर्यवान् है इस प्रकार क्रम कहना चाहिये था, क्योंकि हरिसे प्रद्युम्न ही प्रमुखरूपसे उत्पन्न हुवे हैं. रुक्मिणीसे प्रकट हुए, किन्तु रुक्मिणी केवल साधन थी, ये सब माताके पुत्र नहीं, क्योंकि पितासे कम नहीं थे, उनमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं थी।।८-९।।

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः।।१०।।
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश।

भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु तथा भानुमान, चन्द्रभानु, बृहद्भानु तथा आठवां अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु; ये दश सत्यभामाके पुत्र हैं।।१०।।

भानुसे लेकर प्रतिभानु तक सत्यभामाके दश पुत्र हैं, जिनके कार्य प्रसिद्ध नहीं हुवे हैं, वह भी प्रसिद्ध कार्य करनेवालोंके समान ही क्वचित् जानते हैं, इसलिये श्लोकमें 'तथा' पद दिया है, आठवें प्रतिभानुकी स्वतन्त्रता तथा महत्व सबसे पृथक् है इसलिये उसकी संख्या 'अष्टम' दी है, 'सत्यभामात्मजा' पद केवल ज्ञान करानेकेलिये माताका निरूपण किया है, यों तो सत्यभामा भी साधनमात्र ही है सर्व पुत्रोंका सबमें मातृ व्यवहार समान ही है।।१०।।

साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित्।।११।।
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्द्रविडः क्रतुः।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः।।१२।।

साम्ब सुमित्र पुरुजित् शतजित् सहस्रजित् विजय चित्रकेतु वसुमान् द्रविड़ क्रतु -ये जो दश पुत्र जाम्बवतीके हुए वे पिताको मान्य थे।।११-१२।।

जाम्बसे लेकर क्रतु तक दश पुत्र जाम्बवतीके थे, 'एते' पदसे उनके देवतापनसे निरूपणके समय उपस्थितिको कहते हैं, फिर 'साम्बाद्याः' यह वाक्य कहकर बताते हैं कि दश ही पुत्र दो स्वभाववाले हैं, जिससे भगवानकी इसमें सम्मति नहीं है यों किसीको शंका उत्पन्न हो तो उसके निवारणकेलिये 'पितृ सम्मताः' पद दिया है, जिसका अर्थ है पिताके मान्य हैं।।११-१२।।

वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान्वृषः।
आमः शंकुर्वसुः श्रीमान्कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः।।१३।।
श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः।।१४।।

सुघोषो गात्रवान् सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः।।१५।।

नाग्नजितीके वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शंक, वसु और श्रीमान् कुन्ति; ये दश पुत्र हुए।।१३।।

कालिन्दीके श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सबसे छोटा सोमक, ये दश पुत्र हुए।।१४।।

माद्रिके सुघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह और ओज, अपराजित, ये दश पुत्र हुए।।१५।।

श्रीमान् यह नाम नहीं है, किन्तु विशेषण है, नाग्नजिति सत्याका नाम है जिसके वीरादि दश पुत्र है, श्रुत आदि दश कालिन्दीके पुत्र हैं, इनमें 'एकल' यह विशेषण है जिसका अर्थ हैं, एक ही सर्व शत्रुओंको मारनेमें समर्थ है, दशवां सोमक अवर है, अर्थात् संख्या पूर्तिकेलिये पीछे उत्पन्न हुआ सुघोष आदि माद्री अर्थात् लक्ष्मणाके दश पुत्र हैं उर्ध्वग यह नाम है महाशक्ति एक है, यह पृथक है, और ओज, अपराजित यह भी नाम हैं।।१३-१५।।

वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च।
महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः।।१६।।

वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धनु, अन्नाद, महाश, पवन, वह्नि और क्षुधि; ये मित्रविन्दाके दश पुत्र हैं।।१६।।

वृक आदि दश पुत्र मित्रविन्दाके हैं, 'महाश' यह नाम है 'क्षुधि' संख्या पूरक दशवां है।।१६।।

संग्रामजिद् बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित्।
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः।।१७।।
दीप्तिमांस्ताम्रपत्राद्या रोहिण्यास्तनया हरेः।

भद्राके संग्रामजित, वृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित, जय, सुभद्र, वाम आयु और सत्यक ये दश पुत्र हुए, भगवानकी रोहिणी स्त्रीसे दीप्तिमान् और ताम्रपत्र आदि दश पुत्र हुए।।१७।।

संग्रामजितसे लेकर सत्यक तक भद्राके दश पुत्र हुए, सोलह हजार एकसौमें रोहिणी मुख्य थी. कहीं मन्त्रशास्त्रमें यह रोहिणी आठ पटराणियोंमें भद्राके स्थान पर प्रसिद्ध है. उसका दीप्तिमान् पुत्र आठ पटरानियोंके पुत्र तुल्य हैं,

जिससे ये इक्यासी पुत्र इक्यासी भक्तिके प्रकारकी भांति प्रकट किये, यों प्रकाशित किया, रोहिणीके ताम्रपत्र आदि पुत्र साधारण थे, इनके दश पुत्र इसलिये नहीं गिने जिससे अन्योंके दश पुत्र प्रसिद्ध देखनेमें आवे।।१७।।

पौत्रोंका निरूपण करते हुवे एकका निरूपण कर यह बताते हैं कि अन्य भी इसके समान ही हुवे हैं, प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध हुआ, इस प्रकार कहते हैं.

प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद् रुक्मवत्यां महाबलः।।१८।।
पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन्नाम्ना भोजकटे पुरे।
एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश।।१९।।

प्रद्युम्नकी स्त्री, रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीसे भोजकट नगरमें महाबलशाली अनिरुद्धका जन्म हुआ।।१८।।

हे राजन्! इनके पुत्र-पौत्र करोड़ों हुए, कृष्णके पुत्रोंकी सोलह हजार माताएं थीं।।१९।।

रुक्मवती, रुक्मीकी पुत्री प्रद्युम्नके मामेकी पुत्री थी, प्रद्युम्न कितना ही समय वहां मामाके घर रहे थे, वहां ही विवाहकर पुत्र पैदा किये, अकेला शत्रुके घरमें कैसे रहा? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'महाबल' प्रद्युम्न बहुत बलवाला था, इसलिये वहां रहनेमें इसको किसी प्रकार डर न लगा, 'च' शब्द 'तु' शब्दके अर्थमें है तथा 'च' पदका यह भाव है कि प्रद्युम्नमें भगवानके आविष्ट होनेसे ही अनिरुद्धका जन्म हुवा है, यह जतानेकेलिये 'च' कहा है यदि प्रभुका आवेश न होता तो कामसे उत्पन्न होनेसे प्रयोजक न हो सकता, रुक्मीकी पुत्री कहकर मायावतीका निषेध किया, 'तु' शब्दसे यह जताया है कि मायावतीका दूसरा नाम अथवा आवेश हो, इस असम्भावनाको दूर करता है. राजन् यह सम्बोधन देकर, प्रद्युम्नका द्वारका भेजनेका निषेध सूचन करते हैं, वह रुक्मी भी राजा था, इसलिये वहां ही जंवाई और पुत्रीको अपने नगरमें रखा था, जिस नगरका नाम भोजकट था, एक पौत्रका वर्णन कर, दूसरोंकेलिये कहते हैं कि इनके पुत्र और पौत्र करोड़ों हुए, उनमें दश संख्याका नियम नहीं था, सर्वके ऐकमत्यसे कहते हैं, कि भगवानके जो सोलह हजार स्त्रियां थीं वे सब भगवानके प्रत्येक पुत्रकी माताएं थी, जैसे जन्म देनेवाली माता, वैसे ही सब माताएं थीं. सौतिलका भाव किसीमें नहीं था, 'च'से १०८ भी वैसी ही माताएं मानी जाती

थीं।।१८-१९।।

रुक्मीकी कन्याका प्रद्युम्नसे विवाह अयोग्य है, यों अयोग्य विवाह करनेमें क्या कारण है वह 'कथं' श्लोकमें पूछता है.

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद् दुहितरं युधि।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते।
एतदाख्याहि मे विद्वन् द्विषोर्वैवाहिकं मिथः।।२०।।

राजा कहता है, हे विद्वन्! रुक्मीने अपने शत्रुके पुत्रको अपनी कन्या कैसे दी? वह युद्धमें श्रीकृष्णसे पराभव पाकर उसको मारनेकेलिए छिद्र देख रहा था, ऐसी स्थितिमें शत्रुओंका यह विवाह सम्बन्ध किस प्रकार हुआ? यह बताईये।।२०।।

विवाह प्रेमसे होता है अर्थात् जिनका आपसमें प्रेम होता है वे परस्पर विवाह सम्बन्ध करते हैं, पिताका ही रूप पुत्र है, शत्रुकी अपेक्षा शत्रुका पुत्र द्वेषके योग्य है, और पुत्री तो अपार प्यारी होती है, शत्रुताका कारण कहते हैं, लड़ाईमें कृष्णसे हार गया था; यदि कहो कि वह द्वेष मिट गया, तो यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि आज तक शत्रुताके कार्य चालू है, साक्षात् विरोध करनेमें रुक्मी असमर्थ है, सम्बन्ध करनेका कोई प्रसिद्ध कारण देखनेमें नहीं आता है, इसलिये पूछता है कि बताईये कि क्या कारण है? विद्वन् सम्बोधनसे यह सूचित करता है कि आप ज्ञानवान् है इसलिये आप इसके तत्त्वको जानते हैं कि दोनों शत्रुओंका आपसमें परस्पर विवाह करनेका क्या कारण है, वह कृपाकर बताईये।।२०।।

यह पहले नहीं सुना, समाधिके अभावसे अब भी उसका चिन्तन नहींकर सकते हैं, इसलिये उसका ज्ञान कैसे हुआ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'अनागत' श्लोकमें देते हैं.

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः।।२१।।

जो वस्तु भविष्य, भूत और वर्तमान तथा इन्द्रियोंसे अगम्य है एवं दूर और किसीकी ओटमें हो, उसे भी योगीजन अच्छी तरह देखते हैं।।२१।।

देश-काल आदिमें रुकावट डालनेवाले, योगियोंके ज्ञानमें प्रतिबन्ध नहीं डाल सकते हैं, जिस प्रकार नेत्रकी निकटता प्रत्यक्षमें प्रत्यासत्ति(बहुत

पासमें, निकटता करानेवाला) है वैसे ही सर्वत्र योगियोंका योगसे उत्पन्न धर्म प्रत्यासत्ति है, काल वस्तुओंको ले जाता है, जैसे नदी पानीको ले जाती है, यद्यपि जाते हुए द्रव्य सहित जल किसी देशमें स्थित हो, तो उस समय उस देशमें स्थित मनुष्य उसको देख सकता है, तो भी दूसरे स्थान पर गये हुएको यह पहले ही स्थान पर स्थित नहीं देख सकता है, उसके साथ गया हुआ ही उसको देख सकता है, अथवा जैसे जिन पदार्थोंको मनुष्य नहीं देख सकते हैं. उनको देवता देख सकते हैं, जैसे काल-ज्ञानी, सबसे ढका हुआ पदार्थ जान सकते हैं, इसी प्रकार सर्व सामर्थ्यसे युक्त योग ही सबको जाननेमें समर्थ हैं अतीन्द्रिय पद वर्तमानका विशेषण है अर्थात् चालू समयमें भी जो इन्द्रियोंसे न जाना जा सकता है 'अतीत' पदका भावार्थ है, जिसका अनुभव नहीं किया गया है 'अनागतं' पदका तात्पर्य है जिसकी कोई खबर नहीं है च' पद कहनेका आशय है. जो वस्तु अन्य धर्मको प्राप्त हुई हो, 'विप्रकृष्ट' उसको कहते हैं जिसमें देशका भेद हो निकट हो किन्तु दीवारसे जिसमें रुकावट आई हो. इत्यादि सबको ही योगी अच्छी तरह देख सकते हैं. ज्ञानियोंको ध्यान करनेसे ज्ञान होता है, किन्तु योगियोंमें तो योगसे उत्पन्न धर्मके प्रकट होने पर भगवानकी भांति सर्वज्ञत्व आता है।।२१।।

'यद्यप्यनुस्मरन्'से दो श्लोकोंमें प्रद्युम्नके इस प्रकार विवाह होनेमें दो कारण देते हैं.

यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः।
व्यतरद् भागिनेयाय सुतां कुर्वन् स्वसुः प्रियम्।।२२।।

श्रीकृष्णचन्द्रसे अपमानित रुक्मी, यद्यपि वैरको भूला नहीं था, तो भी बहिनको प्रसन्न करनेकेलिए उसने अपनी पुत्री बहिनके पुत्रको दे दी।।२२।।

बहिनको प्रसन्न करना, यह एक कारण दूसरा कारण स्वयंवरमें कन्याने ही स्वतः वरा, इनमें पहलेका प्रतिपादन करते हैं, यद्यपि रुक्मीको कृष्णका वर याद था, तो भी, बहिनकी प्रसन्नताकेलिये(माताके पक्षवाले) बहिनके पुत्रकी बेटी, बहिनकी इच्छानुसार ही कार्य करना चाहिये जिससे वह प्रसन्न होवे, यों न कर, उसका अपमान किया, इस अभिप्रायको पहिले नहीं जाना, पश्चात् जानकर, अब बहिन कैसे प्रसन्न होगी, जिसका विचार किया, ध्यानमें आया कि मेरे प्राण तो बहिनने बचाये, वरना कृष्ण मुझे मार डालता, जब यों समझा, तब बहिनका उपकार माना, इसलिये, उसको प्रसन्न करनेका यही मार्ग जान, उसके

पुत्रको अपनी पुत्री दी, प्रिय पदार्थ, प्रियको ही यदि दिया जाता है, तब सब ही प्रसन्न होते हैं।।२२।।

दूसरा कारण 'वृतः स्वयंवरे' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया।
राज्ञः समेतान् निर्जित्य जहारैकरथो युधि।।२३।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं, उसने स्वयंवरमें साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव प्रद्युम्नको वर लिया, तब वह युद्धमें एक रथी होकर भी इकट्ठे सब राजाओंको जीतकर, इसको हर ले आया।।२३।।

जिस अंगरहित कामके वश होने पर अन्य भी वरे जाते हैं, अनंग होनेसे जिसको किसीने भी वरा नहीं, अब वह अंगसहित हो गया है इसको रुक्मीकी पुत्रोंने जान लिया अतः इसको वर लिया, स्वयंवरमें वरलेनेसे निन्दा न होगी इसलिये उस अभिमानीने कन्याका स्वयंवर रचा, अनन्तर विधिपूर्वक सन्तोषसे ही, प्रद्युम्नका रूप ही महान् अर्थात् अति सुन्दर होगा, किन्तु वीरता उसमें नहीं होगी? इस शंकाका निवारण करनेकेलिये कहते हैं, कि सब राजा इकट्ठे होकर लड़नेकेलिये सावधान हो गये थे, किसीकी बिना सहायताके आप ही एक रथी होते हुए भी उन सबको जीत कर मामेकी पुत्रीको हरकर मामेके घर गए, यों पूर्व श्लोकसे समझा जाता है, एक ही रथ था इत्यादि धर्मोंकी प्रतीतिसे, पितासे भी अधिक बली कहा है।।२३।।

इस प्रकार धर्मके प्रस्तावमें पुत्रकी उत्पत्ति तथा विवाह कहकर भगवानके किये हुए कन्यादानको भी 'रुक्मिण्यास्तनयां' इस श्लोकसे कहते है.

रुक्मिण्यास्तनयां राजन् कृतवर्मसुतो बली।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल।।२४।।

बड़े नेत्रवाली चारुमती नामवाली रुक्मिणीकी कन्याको कृतवर्माके पुत्र बलीसे पाणिग्रहण कराया।।२४।।

कृतवर्मा यादव था, उसके पुत्रका नाम बली था. रुक्मिणीकी पुत्री चारुमती नामवाली, विशाल नेत्रवाली थी जिससे वह सुन्दर थी, यह जताया उस कन्याको बुलाकर उससे पाणिग्रहण कराया, रुक्मिणीकी कन्याका चारुमती नाम कहनेसे जाना जाता है कि इसको अन्य कन्याएं भी थीं, पांच 'च'कारोंसे ज्ञान

होता है कि रुक्मिणीको, पांच कन्याएं थीं, 'किल' पद प्रसिद्धि अर्थमें दिया है, रुक्मिणीकी कन्या कहनेसे दूसरी पत्नियोंकी कन्याओंका भी विवाह किया यों समझना चाहिये, यह व्यासादिने नहीं कहा है, महत्वकी प्रसिद्धिके कारण केवल लौकिकपनसे जाना जाता है।।२४।।

अनन्तर अनिरुद्धने वहां ही भोजकटमें जन्म लिया उसका विवाह भी वहां ही हुआ, जिसका वर्णन 'दौहित्रायानिरुद्धाय' इस श्लोकमें करते हैं.

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशवशं गतः।।२५।।

यद्यपि रुक्मीका अब तक कृष्णसे वैर था तो भी बहिनको प्रसन्न करनेकेलिए तथा स्नेहके पाशमें फंसा होनेसे अपनी पौत्री रोचना श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धको योनि सम्बन्धी अधर्म जानकर भी अर्पण की।।२५।।

अपने कुलकी कन्यासे दूसरे कुलका विवाह न करे. इसलिये रुक्मिने अपनी रोचना नामवाली पोती श्रीकृष्णके पोते अनिरुद्धको दी, वह अनिरुद्धके मामेकी बेटी थी, इसके देनेसे द्वेष शान्त हो जायेगा, यदि कोई यों समझे तो कहते है कि वैर शान्त न हुआ वैर तो वैसा ही रहा, तब क्यों दी? इस पर पूर्व दिया हुवा हेतु फिर भी दोहराते हैं कि बहिनको प्रसन्न करनेकेलिये ही, जबतक मैं जीवित हूं तबतक जो कुछ उत्कृष्ट होवे वह बहिनको प्रसन्न करनेकेलिये दे जाऊं, यदि यह इच्छा न होती तो बार-बार वही हेतु न कहते. जो देना था वह दे दिया, इतनेसे बहिन कैसे प्रसन्न होगी? यदि यों कहते हो तो, इसके उत्तरमें कहा कि यद्यपि यह यौन सम्बन्ध अधर्म है यों जानता था, तो भी भगिनीके प्रीत्यर्थ इस प्रकार किया, इस प्रकारका सम्बन्ध अधर्म है 'माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामही' 'तिस्र एक कुले जाता सोऽभिशस्तो निगद्यत' जिसकी माता, दादी और परदादी एक ही कुलमें जन्मी हुई हो उस कुलमें जन्मी हुई कन्यासे जो विवाह करता है, वह लम्पट और दोष दूषित कहा जाता है, क्योंकि वह विवाह अधर्म है, इस अधर्मको भी अंगीकारकर बहिनको प्रिय करनेकेलिये पुत्री और पौत्री दी, अधर्म आचरण तो अप्रिय लगता है, वह प्रिय कैसे? इस पर कहते हैं कि 'स्नेहवशं गतः' स्नेहके आधीन हो गया, स्नेह होने पर सब अच्छा देखनेमें आता है, दोनोंका परस्पर प्रेम होनेसे, उस कार्यमें जो दोष होता है वह देखनेमें नहीं आता है, अतः जानते हुए भी यों करना प्यारा लगता

है, यों दोनोंने लौकिक बुद्धिसे इस प्रकारके विवाह किये।।२५।।

यह विवाह लौकिककी भांति हुआ, इसलिये जिस समय कन्याका विवाह संस्कार होता था, उस समय वरकी शोभायात्रामें भगवान् आदि सब ही आये थे, यह 'तस्मिन्नभ्युदये' श्लोकमें बताते हैं.

तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ।
पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः।।२६।।

हे राजन्! उस विवाहोत्सवके समय साम्ब, प्रद्युम्न आदिको लेकर, रुक्मिणी, राम और केशव भी भोजकट नगरमें गए।।२६।।

विवाहोत्सवमें रुक्मिणी मुख्य थी, क्योंकि इस विवाहके होनेमें यह ही कारण थी, पश्चात् क्रिया बताते हैं कि बड़े फिर छोटे इस प्रकार सब साथ ही साम्ब प्रद्युम्न आदिको लेके जिनका वहां जाना असम्भव था, वे राम और कृष्ण भी वर शोभायात्रा बनाकर भोजकट नगरको गये, वह नगर, रुक्मीका प्रतिज्ञा स्थान है. साम्ब सुन्दर था, इसलिये प्रद्युम्नसे पहले उसका नाम कहा है, 'क' प्रत्यय अनादरमें है निषिद्ध होनेसे।।२६।।

'तस्मिन्निवृत्त' इस श्लोकमें निषिद्ध आचरणका फल कहते हैं.

तस्मिन्निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय।।२७।।

विवाह कार्यके पूर्णरीतिसे सिद्ध हो जानेके अनन्तर कालिंग जिनमें मुख्य है, वैसे राजा लोग रुक्मीको कहने लगे कि पासोंसे खेलकर बलरामको जीत ले।।२७।।

कन्यादानके अनन्तर, वरकी शोभायात्रा भी पूर्ण हो जानेके पीछे कलिंग देशका राजा, जो देशके नामसे प्रसिद्ध है वे अभिमानी कालिंग आदि राजा, स्वतः स्नेहके कारण चुप रहे थे, तो भी रुक्मीको कहने लगे कि पासोंसे बलरामको जीत लें, यद्यपि उनका इस प्रकार होनेमें कुछ प्रयोजन नहीं था।।२७।।

मेरी ही पासोंकी क्रीड़ामें जय होगी ऐसा रुक्मीको कैसे निश्चय हुआ! इसका उत्तर 'अनक्षज्ञो' श्लोकोंसे देते हैं.

अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत्।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत।।२८।।
शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्रादधे पणम्।

तं तु रुक्म्यजयत् तत्र कालिङ्गः प्राहसद् बलम्।
दन्तान् संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत् तद् हलायुधः।।२९।।

हे राजन्! यह बलराम जुआ खेलना नहीं जानते थे, किन्तु इनको जुआ खेलनेका बहुत व्यसन है; इस प्रकार कालिंग राजाने कहा तब रुक्मी बलरामजीको बुलाकर, उनसे जुआ खेलने लगा, बलरामजीने प्रथम सौ, फिर हजार पीछे दस हजारके दाव लगाए. ये सब दाव रुक्मी जीत गया, तब कालिंग दान्त दिखाता हुआ जोरसे बलराम पर हंसने लगा, राम इस हंसीको सहन न कर सके।।२९।।

जो वैदिक कर्मके परायण हैं अथवा धर्म पर हैं वे ही जुआ करना(खेलना) जानते हैं बलराममें ये दोनों धर्म नहीं थे इसलिये वे जुआ खेलना नही जानते थे यह योग्य ही है. हे राजन्! सम्बोधनसे बताया है कि आप राजा होनेसे जुआ खेलना जानते हैं, जब बलरामजी जुआ खेलना नही जानते हैं तो फिर खेलेंगे कैसे? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि उनको खेलनेका बहुत व्यसन है, इसलिये खेलेंगे प्रथम जुआ खेलनेमें प्रवृत्त हुए तो पीछे हटेंगे नहीं, इसलिए वे हारेंगे, इस प्रकार उपपत्तिपूर्वक समझाने पर रुक्मीने बलरामजीसे खेलनेका निश्चय किया, बलराम मेरा हितकारी है, क्योंकि ज्ञानोपदेश देकर शान्ति कराई थी, यह विचारकर रुक्मीने बलको ही बुला लिया, जिससे वह भगवानसे पृथक् होकर अकेले आये तब दुर्बुद्धि रुक्मी उनसे जुआ खेलने लगा, रुक्मने पासा लेकर बलरामजीको कहा कि दाव लगाईये, पासोंके चारोंतरफ अलग-अलग संख्या लिखी जाती है वहां कोई संख्या समान कोई विषम संख्या होती है यों पहले ही प्रतिज्ञाकर, खेलनेमें दोनों प्रवृत्त हुए, पश्चात् हाथमें पासा लिये हुए रुक्मीने कहा कि अब दाव लगाईये, तब रामने सो, हजार और दशहजारके दाव लगाये, उन दावोंको रुक्मोने कपट(चालाकी)से पासोंको अपनी जीत हो इस प्रकार गिराये, जिससे जीत गया, कालिंगने प्रथम ही बता दिया था कि राम खेलना जानते नहीं, अतः वह दान्तोंको दिखाता हुआ जोरसे ऐसे हंसने लगा जैसे बलरामका अपमान देखनेमें आवे, बलरामजीने मनमें समझा कि हंसना कापट्यसे है अर्थात् मेरी हंसी करता है, अतः इस हंसीको राम सहन न कर सके, नीति जाननेवाले तो हंसीको सहन करते हैं अतः नीतिज्ञ रामको भी सहन करनी चाहिये, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि ये हलायुध हैं इसलिये सहन नहींकर सकते हैं।।२८-२९।।

ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद् बलः।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः।।३०।।

पीछे रुक्मीने लक्षका दाव लगाया, वह बलरामजी जीत गए, तब रुक्मी छलसे कहने लगा कि मैं जीत गया हूं।।३०।।

जुएके शास्त्रकी यह विधि है कि तीन बार दाव हो जाये तो इसके पीछे विरुद्ध पक्षवाला पासोंसे खेले, अतः अब बलरामजीने पासे हाथमें लिए रुकमीने लक्षका दाव लगाया बलरामजीने पासे फैंके तो पासे इसप्रकार गिरे जिनसे बलरामजी जीत गये, यह खेल तो एकान्तमें हो रहा था, जिससे अपने साम्ब आदि साक्षी तो थे नहीं, किन्तु सब उसके ही पक्षके थे, अतः एकबार ही बड़ा भारी पराजय हुआ, क्यों कि जुएमें झूठ बोलनेसे निन्दा नहीं होती है, इसलिये रुक्मीने कहा कि मैंने जीता है, उन पासोंको उलटाकर दिखाने लगे कि देखो मैंने जीता है; कपटकर भी मैं जीतूंगा यह ही निश्चयकर जुआ खेलना प्रारम्भ किया था, अतः झूठ कहने लगा।।३०।।

मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव पर्वणि।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमादधे।।३१।।

जिसप्रकार पूनमके दिन समुद्र क्षोभयुक्त होता है, वैसे ही श्रीमान् बलदेवजी क्रोधसे क्षोभयुक्त हो गए, स्वभावसे लाल नेत्रवाले बलदेवजीने अतिशय क्रोधसे दस करोड़का दाव लगाया।।३१।।

तब क्रोधसे क्षुभित हृदय बलरामजी इसको सहन न कर सके, इतने पैसे दे नहीं सके होंगे इसलिये क्रोधमें आये होंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं क 'श्रीमान्' बलदेवजी पूर्ण धनवान् हैं, अतः न दे सकनेसे क्रोध नही आया था, रुके हुवे भी, स्वभाविक ही जुआ खेलनेमें रुचिवाले हैं, उस समय यों करना ही उचित था, जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि पूनमके दिन समुद्र जैसे क्षुभित होता है, वह पूर्ण चन्द्रके सन्मुख जाता है वैसे यह भी मेरा शिष्य होकर मुझसे भी ऊंचा बनना चाहता है, और झूठ बोलता है, इसलिये चन्द्रकी तरह हुए. स्वभावसे तो आपके नेत्र लाल थे ही, जिनसे क्रोध न होता तो भी क्रोधवाले जाने जाते, क्रोध हो तो फिर क्या कहना? विशेष क्रोधसे बहुत ही लाल नेत्रवाले हो गये, बहुत लाल नेत्रवाले होनेसे मनका यह भाव बताया कि इस(रुकमी)को मारना ही चाहिये, पश्चात् बलरामने फिर पासे हाथमें लिये क्योंकि तीन बार खेलना चाहिये, तब

रुक्मीने दशकरोड़का दाव लगाया. तीन बार जितना दश गुणा हो, उतना एक ही बार दाव लगाया, जैसे एक झूठ कहनेसे ही सब अनृत जाना जाता है।।३१।।

अब भी रामने पहलेकी भांति जीत लिया, जुआ खेलना जानते हैं इसलिये नहीं किन्तु धर्मसे, यह 'धर्मेण' श्लोकमें कहते हैं.

तं चापि जितवान् रामो धर्मेण च्छलमाश्रितः।
रुक्मी जितं मयात्रेमे ब्रुवन्तु प्राश्निका इति।।३२।।

यह दाव भी धर्मसे बलरामजीने ही जीता, परन्तु रुक्मी कपट करके कहने लगा कि मैंने जीता है, इस विषयमें ये सभासद् निर्णय देगें।।३२।।

रुक्मीने देखा अब तो बड़ी हानि होगी अतः निश्चय किया कि कापट्य ही करना चाहिये, जिससे फिर भी कहने लगा कि यह दाव भी मैंने जीता है ये सभासद कहेंगे कि किसने जीता है? बलरामजीने जैसा समझा है वह भ्रान्ति है, अतः सभासद ही कहेंगे, जिनके आगे निर्णयकेलिये प्रश्न रखा जावे, वे सभासद कहे जाते हैं, उसमें देशादि देव साक्षी हैं, कालिंग आदिमें वे प्रविष्ट नहीं हुवे हैं क्योंकि वे दुष्ट हैं।।३२।।

सभासदोंके कहनेसे प्रथम ही सर्व देवतारूप आकाशवाणीने कह दिया कि यह दाव बलरामजीने ही जीता है, जिससे सन्देहकी निवृत्ति हो गई.

तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः।
धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा।।३३।।

तब आकाशवाणीने कहा कि मैं धर्मसे कहती हूं कि रुक्मी झूठ बोलता है, धर्मसे यह दाव बलरामजीने ही जीता है।।३३।।

यद्यपि बलरामजी जुआ खेलना नहीं जानते हैं, तो भी धर्मसे ही जीता है, रुक्मी केवल अधर्मसे ये वचन कह रहा है, 'वै' पद देकर यह बताया है कि रुक्मी जो कुछ कहता है वह बिना सन्देह झूठ है, इसका वाक्य केवल लौकिक है, जिसका भी 'मृषा' शब्दसे निवारण करता है, लौकिक मनुष्य भी ऐसे प्रसंग पर झूठ नहीं बोलते हैं।।३३।।

तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः।
संकर्षणं परिहसन् बभाषे कालचोदितः।।३४।।

दुष्ट राजाओंका सिखाया हुआ रुक्मी आकाशवाणीका अनादरकर कालसे प्रेरित होनेसे बलदेवजीकी हंसी करता हुआ, यों कहने लगा।।३४।।

अकाशवाणी सुनकर दुष्ट राजाओंने रुक्मीको सिखाया कि जबकि, यहां सभासद निर्णय करनेवाले हैं तो इस कृत्रिम शब्दको ध्यानमें नहीं लाना चाहिये जैसे आपने कहा है, उस पर ही डटे रहो आकाशवाणीके कहे शब्द मत मानो इस प्रकार प्रेरित रुक्मी बलदेवको हंसी करता(मजाक उड़ाता) हंसता हुआ कहने लगा, रुक्मी जिस देशमें जन्मा है वह देश, धर्म प्रधान देश नहीं है जिससे और दुःसंगके कारण, जो समग्र जगतको लयकेलिये खेंच सकते हैं, ऐसी सामार्थ्यवाले संकर्षण पर कटाक्ष हास्यादि करता हुआ अनुचित कहने लगा, कहनेकी क्या आवश्यकता थी, चुप हो कर बैठ जाना था अथवा उठकर चला जाता यों नहीं किया, जिसका कारण यह है कि इसके सिर पर काल सवार था जिसने इसको ऐसी बुद्धि दी।।३४।।

भगवानने कहा है कि हम गोपाल हैं, इसलिये रुक्मीको अन्तर्यामीने एसी ही प्रेरणा की, जिससे उसने कहा कि बचपनमें विद्याभ्यास करते है परंतु क्षत्रिय शस्त्राभ्यास करते हैं और गोप बचपनमें बनमें गौओंको चराते हैं, इसप्रकार लोकोंको विश्वास करानेकेलिये मार्मिक वचन कहने लगा, जिनसे बलरामको क्रोध हो.

नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः।।३५।।

तुम पासा खेलना नहीं जानते हो; क्योंकि गोपाल होनेसे वनमें गौओंको चराना ही जानते हो, पासोंसे और बाणोंसे खेलना तो राजा लोग जानते हैं, आप जैसे नहीं।।३५।।

तुम पासा खेलना नहीं जानते हो क्योंकि गोपाल हो, सब विद्याओंमें सब निपुण नहीं होते हैं. इसी कारणसे तुम बनमें गौओंको चराना जानते हो, यदि कहो कि हम दोनों ही काम जानते हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि राजालोग पासोंसे खेलते हैं, बिना अभ्यासके विद्या नहीं आती है, पासोंके सीखनेकेलिये अभ्यास करना आवश्यक नहीं क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है? तथा जो जुएके परायण होते हैं वे प्रथम कहे जाते हैं इस शंकाको मिटानेकेलिये, जुआ भी जीत कराती है इसलिये राजाओंके वास्ते बाणोंके समान है. इसलिये कहा है कि क्षत्रिय दोनोंका अभ्यासकर दोनोंमें प्रवीण होते हैं. यदि कहो कि हम भी क्षत्रिय हैं इसलिये दोनों जानते हैं, इसका उत्तर देता है 'न भवादृशाः' आप जैसे क्षत्रिय नहीं,

आपने दूसरेके गृहमें पोषण पाया है. बचपनसे नीचे कर्ममें प्रवृत्त हुवे हैं, जिससे आप पासा और बाण चलाना नहीं जानते है, इसलिये रुक्मीने कहा है कि 'न भवादृशाः'।।३५।।

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृप संसदि।।३६।।

रुक्मीने जब इस प्रकार तिरस्कार किया और दूसरे राजा इस पर हंसे, तब बलदेवजी क्रुद्ध हो, परिघ उठाकर, सभामें ही उसको मार डाला।।३६।।

पश्चात् सर्व सभासदोंने कहा कि रुक्मी सत्य कहता है, यों कहने और हंसी करने लगे, तब काल प्रेरित बलरामजी वहां ही दैवगतिसे कालरूप मुद्गर(परिघ) उठाकर सभामें बैठे हुवे ही उस(रुक्मी)को मार डाला, पक्षपातियोंको उसका पक्ष लेना ही चाहिये, मानों यह जताते हैं इसलिये सभामें ही मारा, 'नृपः' सम्बोधनसे यह बताया है कि राजाओंको यों करना उचित ही है, विचार क्यों नहीं किया! इतनी शीघ्रता क्यों की! जिसके उत्तरमें कहा है, कि 'क्रुद्ध' इन अनर्गल वचनोंके सुननेसे एवं हंसी आदिसे अपमानित होनेके कारण 'क्रुद्ध' हो गए. अर्थात् क्रोध आ जानेसे परिघ ही लेकर मारा, जिससे दूसरी कोई क्रिया नहीं की. 'च' पदसे यह भाव बताया है, कि उनके सेवक भी हंसकर हंसी करने लगे।।३६।।

वाणीके अपराधकर्ता रुक्मीको मार डाला, जिन्होंने मानसिक अपराध किया उनकी ताड़ना की, यह 'कलिंगराजं' श्लोकमें कहते हैं.

कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे।
दन्तानपातयत् क्रुद्धो योऽहसद् विवृतैर्द्विजैः।।३७।।

जो कलिंगका राजा दान्त खोलकर हंसा था, उसको शीघ्र दशवें पैर(कदम)में पकड़कर, क्रुद्ध बलरामने उनके दान्त गिरा दिए।।३७।।

जिसने हंसकर हंसी की थी, वह भाग रहा था उसको दशवें कदम पर पकड़के उसके दान्त इसलिये गिरा दिये, कि वह फिर इस प्रकार दान्त दिखाकर हंस न सके, क्योंकि वह लोकोंको दान्त दिखाते हुवे हंसा था, क्रोध आ जानेसे यहां भी कुछ विचार नहीं किया, दशवें कदम पर क्यों पकड़ा जिसको समझानेकेलिए आचार्यश्री इसका रहस्य प्रकट करते हैं, क्रियाशक्ति प्राणोंमें रहती है, 'नव वै पुरुषे प्राणाः' इति श्रुतेः 'पुरुषमें नव प्राण रहते हैं' यों श्रुति कहती है,

इसलिये प्राणोंके अनुरोधसे प्रयत्नरूप नव कदमोंकी उपेक्षाकर दशवें कदम पर उसको पकड़ लिया।।३७।।

अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः।।३८।।

बलरामजीके परिघसे पीड़ित और जिनके भुज, ऊरु और मस्तक टूट गए है तथा रुधिरसे जो लबालब हो गए हैं, वे डरकर भाग गए।।३८।।

दूसरे जो इसके पक्षपाती थे जो इसकी रायका अनुमोदन करते थे, उनके भी भुजा, ऊरु और मस्तक परिघसे टूट गये थे, जिससे समग्र शरीर रक्तसे लबालब देखनेमें आ रहा था. एवं निश्चय हो गया कि इनके अंग अटूटे हुवे है, अतः डरकर भाग गये, अपने आप भयसे भागजानेमें बलका उत्कर्ष नहीं होता, इसलिये कहते हैं, कि भागनेकी क्रियामें साधन यह था कि परिघसे पीड़ित थे।।३८।।

इस प्रकार पौत्रके विवाहमें अनर्थ होने पर भगवानने क्या किया? वह 'निहते' श्लोकमें कहते हैं.

निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत् साध्वसाधु वा।
रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद् हरिः।।३६।।

साले रुक्मीके मरजाने पर भगवानने अच्छा हुआ अथवा बुरा हुआ, कुछ नहीं कहा. हे राजन्! भगवान्, रुक्मिणी तथा बलदेवजीमेंसे किसीका मुझसे स्नेह न टूट जाए, इस भयसे चुप हो गए।।३६।।

साला एक ही था, वह भी मर गया, विवाहमें साला पवित्रताका कारण होता है अतः कुछ कहना चाहिये, धर्मकी स्थापनाकेलिये दुष्टको मारना ही चाहिये, अतः कुछ कहना ही नहीं, इसलिये दोनोंका निषेध करते हैं, सालेके मरने पर अच्छा हुवा वा बुरा हुवा कुछ नहीं कहा, चुप रहना भी सम्मति है अतः चुप रहनेसे यों जाना जाएगा कि आपने बलरामजीके पक्षका समर्थन किया है, तो अच्छा किया इतना कह देनेमें क्या है? यदि यों कहो तो कहते हैं कि 'निहत' वह तो मारा गया, कार्य होनेके पीछे कहना व्यर्थ ही है, इससे कहना चाहिये कि अच्छा नहीं किया, ऐसा भी नहीं कहा यों सूचित होता है, वहां कारण है कि रुक्मिणीके स्नेह टूटनेके भयसे शान्ति धारणकर ली, भक्ता होते हुए भी मायाकी कार्यरूपा अविद्या है, यों उत्पत्तिके विचारसे स्नेह भंगकी सम्भावना होती है. इस

कारणसे शरणागत जैसी ही मुझे भी वैसा ही होना चाहिये, यों ही उचित है, यदि सर्वथा स्नेह टूट जावे तो भक्तिमार्ग ही नाश हो जावे, यह भय था, मार्ग नष्ट हो जावे तो भी ईश्वरको कोनसा भय है! यदि यों कहो तो कहते हैं, 'हरिः' वे ही सर्वके दुःखहर्ता है, मार्ग नष्ट हो जानेसे सर्वका दुःख नष्ट न होगा, इस कारणसे भय था. अच्छा नहीं किया, यों भी न कहनेका कारण यह था कि बलरामजीके स्नेह टूटनेका भय था, यदि उनका स्नेह टूट जावे तो अवतारका प्रयोजन ही न रहे, भगवानसे भिन्न अन्यधर्मकी प्रवृत्ति हो जावे, इस प्रकार स्नेह भंगका सम्भव है, केवल शक्ति विभक्त है स्वरूपत्व तो एक है।।३६।।

दोनोंका विनियोग कहकर तीन उत्साहरहित हो गये शिष्टोंका कृत्य 'ततोऽनिरुद्धं' श्लोकसे कहते हैं

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम्।
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः।।४०।।

नवीन बहूके साथ अनिरुद्ध वरको रथमें बिठाकर राम आदि यादव, मधुसूदनके आश्रयसे सर्व कार्य सिद्धकर भोजकटसे कुशस्थलीको गए।।४०।।

तदीयोंके प्रतिबन्ध निवृत्तिकेलिये, बरातियोंमें श्रीबलदेवजीको अगुवा बनाया, 'सूर्यया' शब्दका भावार्थ नवीन बहूके साथ, दुःखी होनेसे बलपूर्वक बहूको रथमें बिठाया, क्योंकि दुःखित थी! इस पर कहते हैं, कि नाना 'कुशस्थली' पदसे बताया कि वह प्रदेश विषम(ऊंचा–नीचा) है. 'दशार्ह' पदसे यादव विशेष कहे हैं, उस दशाके योग्य हैं, शिष्ट अर्थात् सदाचारियोंको दोनों कार्य इष्ट हैं, सम्पूर्ण अर्थ सिद्ध हो गये, जैसेकि शत्रु मारा गया और इष्टकी प्राप्ति हुई अर्थात् दुलहिन मिल गई, यों दोनोंमें कारण भगवानका आश्रय है, धर्म प्रस्तावमें धर्मरक्षक अनिरुद्धजी है, इसलिये उनकी कथासे दुष्टका निवारण कहा है।।४०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (उत्तरार्ध) अध्याय ५८ की
श्रीवल्लभाचायचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाके राजस फल अवान्तर प्रकरणके
पंचम अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ५९

ऊषा–अनिरुद्ध मिलन

निरोधे राजसफले देवानां विजयः स्फुटः।
निरूप्यते यतो रुद्धाः नान्यं सम्भावयन्ति हि।।का.१।।

भागवतके राजस फलप्रकरणमें देवोंकी विशेष जय प्रकट निरूपण की जाती है; क्योंकि जो विरुद्ध हैं, वे अन्यका ध्यान नहीं रखते हैं।।१।।

त्रयोदशे ततोऽध्याये हेतुस्तस्य निरूप्यते।
अनिरुद्धप्रसङ्गेन धर्मः सिध्यति तेन हि।।का.२।।

पश्चात् उत्तरार्धके तेरहवें अध्यायमें उसका कारण कहा जाता है, उस अनिरुद्धके प्रसंगसे निश्चयधर्म सिद्ध होता है।।२।।

सर्वथाप्युवकारित्वात् सर्वतो भयशङ्कया।
परमानन्दरूपत्वात् सफलो राजसः स्मृतः।।का.३।।

सर्व प्रकारसे उपकारी होनेसे, सब तरफसे भयकी शंका होने पर भी परमानन्दरूप होनेके कारण राजस सफल हुआ।।३।।

अनिरुद्धो निरोद्धव्यो निरुद्धो येन केनचित्।
तन्मूलाः सर्व एवैते विनिरुद्धा भवन्ति हि।।का.४।।

जिस किसीसे निरुद्ध हुआ, अनिरुद्ध भगवानको अपनेमें निरुद्ध करना ही चाहिए; कारणकि मनका आधिदेव होनेसे भक्तोंकी इन्द्रियादि सबकी जड़ अनिरुद्ध है, जिससे अनिरुद्धका भगवानमें निरोध हो जानेसे, अब इन्द्रियादिका भी निरोध स्वतः भगवानमें ही हो जाएगी।।४।।

इति कारिका सम्पूर्ण.

सर्व देवोंकी जयकेलिए प्रथम अनिरुद्धके बन्धनका निरूपण किया जाता है, निरुद्ध मन सर्वके निरोधका कारण होता है, वहां अनिरुद्धका बन्धन कालके सेवक दैत्य, कालरूप होते हैं, अतः दैत्यकी पुत्री उषा कालरूप है, इससे उषासे अनिरुद्धका बन्धन कालका ही बन्धन कहा है, इसलिये उषाकी कथा कहते हैं, कालमें भी विषय विचित्रता कारण है, जिसके होने पर मनका बन्धन अच्छी तरह होता है यों यहां चित्रलेखा चलानेहारी है.

स्वप्नेऽपि चेत् प्रसङ्गः स्याद् बद्धो भवति मानवः।

अन्येन वा तथा ज्ञातः किमु साक्षात् तथाविधः।।का.१।।

यदि स्वप्नमें भी कालोपासक असत्य दैत्योंसे सम्बन्ध हो जावे, तो मनुष्य बन्धनमें आ जाता है अथवा अन्यसे वैसा जाना जाय तो भी बद्ध हो जाता है, तब साक्षात् सम्बन्ध होने पर बन्धन होवे, इसमें कहना ही क्या है!।।१।।

प्रथम अनिरुद्धके बन्धनका हेतु जो उषा है और उसके निश्चयात्मक सम्बन्धकी निरूपिका चित्रलेखा है जिसकी 'बाणः पुत्रशत' श्लोकसे सत्रह श्लोकोंसे प्रस्तावना कहते है.

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन् महात्मनः।

सहस्रबाहूर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम्।।१।।

महात्मा बलीराजाके सौ पुत्रोंमें बड़ा पुत्र बाणासुर था जिसने ताण्डव क्रीड़ाके समय वाद्यसे महादेवको प्रसन्न किया था, उनकी कृपासे सहस्रबाहु हुआ था।।१।।

बलिराजाके सौ पुत्रोंमें यह बाणासुर बड़ा था, यहां केवल बाणासुर नाम न देकर बलिका पुत्र कहा जिसका आशय है कि भगवानने बलिको बान्धा था. उसके बदला लेनेकी सूचनाकेलिए भगवानके अंश अनिरुद्धको उसके पुत्रने बान्धा है. बलि स्वयंने क्यों नहीं बान्धा? इसके उत्तरमें कहा है कि वे महात्मा थे महात्मा अपकार नहीं करते हैं, बड़ा पुत्र जो करता है वह पिताका किया हुवा है. यों जनाता है, बलिकी तरह भगवान् इसको बान्ध देगें यह शंका भी मिटा देनेकेलिए कहते हैं कि, पीछे रहनेवालेके शत्रु बहुत हैं, तो भी भगवानके साथ विरोध करनेमें सामर्थ्य नहीं है, इसलिए उसकी महादेवकी उपासना कहते हैं, सहस्रबाहु महादेवजीकी कृपासे ही हुआ है, उसने महादेवसे बहुत प्रकार अनुग्रह प्राप्त किया है, यों सूचन किया, ताण्डव क्रीड़ाके समय उत्साह बढ़ानेकेलिये अनेक वाद्योंकी अपेक्षा होती है, वहां यदि बजानेवाले बहुत हो तो सबकी समानता हो नहीं सकती है, एक ही बहुत वाद्यकी क्रिया करे तो वह प्रसन्नताका कारण बनता है, बाणासुर एकने ही बहुत वाद्योंसे ताण्डव नृत्यमें महादेवको प्रसन्न किया था।।१।।

प्रसन्न हुए महादेवने जो किया वह 'भगवान्' श्लोकसे कहते हैं

भगवान् सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः।

वरेण छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम्।।२।।

सर्व भूतोंके स्वामी शरण देनेवाले भक्तवत्सल भगवान् महादेवने वर लेनेको कहा, जिससे उसने यह वर मांगा कि आप मेरे पुरके पालक बनी।।२।।

'भगवान्' पदसे यह बताया कि आपमें वर देनेकी सामर्थ्य है. वर जो आपने दिया है, उसको अन्यथा कोई नहींकर सकता है, इसलिये आपको 'सर्वभूतेशः' सबके नियामक कहा है यदि केवल भूत कहा हो, तो शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उत्पन्न अहंकारी हो, तब अवश्य अहंकारके नियामकके आधीन हो जाते, अहंकार सात्त्विक आदिका निराकरण समझकर 'सर्व' शब्द दिया है, सामर्थ्य और आपके कियेका कोई भी प्रतिघात नहींकर सकता है. ये दोनों निरूपणकर अब आपका दान देनेका स्वभाव निरूपण करते हैं कि आप शरण्य हैं, शरण लेनेके योग्य वह होता है जो शरण आये हुवेके दुःखको मिटा देवे, ऐसा हो फिर भी वह तो उचित दाता होनेसे परिमित ही देगा, इस पर कहते हैं कि आप तो भक्तवत्सल है जिस कारणसे आप गौकी भांति विशेष दानी हैं, जैसे गौ बछड़ेको दूध पिलानेकेलिए अन्तःस्थित दूधको निकाल दूसरोंको भी दे देती है, वैसे ही आप भक्तोंको जो नहीं दिया जा सकता है वह भी दे देते हैं, इसलिये कहा कि जो चाहिये सो मांग ले, यों सुनकर, गुप्त करनेकी इच्छावाला वह बाण बहुत शत्रु होनेके कारण, स्वयं सब जगह जाता था. अतः अपने घरकी रक्षाकी चिन्तासे व्याकुल था, इसलिये महादेवजीसे अपने घरकी रक्षाकेलिये उनको ही मांगा अर्थात् मेरे घरकी पालना रक्षा आप करते रहो, इससे यह निश्चय हुआ कि उसके घरको कोई तोड़ न सकेगा इससे देवादि भी उसका प्रतीकार करनेमें समर्थ न रहें।।२।।

तब ऐसेका नाश कैसे? इसका उत्तर देते हैं कि उसके ही क्रोधसे यह कहनेकेलिए दूसरा प्रसंग 'स एकदाह' श्लोकसे १२ श्लोकोंसे कहते हैं.

स एकदाह गिरिशं पार्श्ववर्स्थं वीर्यदुर्मदः।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम्।।३।।
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम्।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम्।।४।।

एकसमय पराक्रमके कारण मदोन्मत्त बना हुआ बाणासुर पासमें स्थित महादेवजीके चरणकमलको अपने सूर्य समान तेजवाले मुकुटसे स्पर्श करता हुआ

उनको कहने लगा, हे लोकोंके गुरु! ईश्वर! महादेव! मैं आपको नमन करता हूं; आप जिनकी कामनाएं पूर्ण नहीं हुई हैं, उनकी कामनाओंको कल्पवृक्षकी तरह पूर्ण करते हैं।।३-४।।

गिरिश महादेवका नाम है, क्योंकि वहां पर्वत पर ही सोते हैं, इस प्रकार निरन्तर स्थितीसे धृष्टता सूचित की है. महादेवजी पासमें ही स्थित थे, जिससे जताया कि इस पर महादेवजीकी कृपा थी अतः आप इसके ही पासमें रहते थे इस कारणसे उसको बहुत ही गर्व हो गया, पराक्रमका मद, दुष्ट होता है, जिससे आश्रयका भी अतिक्रम होता है. पराक्रमसे उत्पन्न अहंकारसे विवेकहीन बने हुयेका कार्य कहते हैं, जो अहंकारी नहीं है, नम्रतावाला है वह तो मुकुट और पाग आदि कहीं घरकर पश्चात् साष्टांग प्रणामकर प्रार्थना करता है इसने तो अग्नि सम स्पर्शसे जलानेवाले मुकुटको धारणकर ही कोमल चरणकमलका स्पर्शकर बादमें कहने लगा कि मैं नमन करता हूं व वाणीसे स्तुति करता हुआ नमस्कार करता है, हे महादेव! इस सम्बोधनसे यह आशय प्रकट किया है, कि आप जैसा दूसरा कोई नहीं जिसकी उपासना की जावे 'लोकानां गुरु' इस विशेषणसे जताया कि उपदेश करनेवाले तथा फल देनेवाले आप ही हैं. इस प्रकार कहनेसे सिद्ध किया कि साधन और फलरूप आप ही हैं, इसलिए आप ही प्रार्थना करनेके योग्य हैं न कि कोई दूसरा प्रार्थना करनेमें यह हेतु है, प्रार्थनामें प्रयुक्त भी मांगा जाय तो वह भी देते हो, जो कुछ मांगा जाय तो भी क्रोध नहीं करते हो इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जिनकी अन्य देवताओंसे तप आदि साधनोंके करने पर भी यदि कामनाएं पूर्ण नहीं होती, वैसे निराश बने हुए शरणागतोंकी शरणमात्रसे सब कामनाएं कल्पवृक्षकी तरह पूर्ण करनेवाले हो।।३-४।।

इस प्रकार प्रार्थित अर्थकी सिद्धिकेलिये कपटसे 'दोः सहस्र' श्लोकसे युद्ध मांगता है.

दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत्।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लेभे त्वदृते समम्।।५।।

आपने मुझे हजार भुजाएं दी, वे अब भाररूप हो रही हैं; क्योंकि त्रिलोकीमें आपके सिवाय मेरे साथ लड़नेवाला कोई नहीं देखता हूं।।५।।

क्रियाशक्तिकी विशेषताकेलिये हजार भुजाएं जो दी, वे अब कार्य न मिलनेसे निरर्थक हो रही हैं, कार्य तो यह है कि किसीसे भी युद्ध हो वह छोटा हो

चाहे बड़ा होवे, उनके न होनेसे यह भुजाएं भाररूप ही है, जैसे ठंडके अभावमें वस्त्र भाररूप लगते हैं वैसे ही युद्धके अभावमें शस्त्र भाररूप है, यदि कहो कि शान्त क्यों हो, लड़ो, खरगोशके सींग नहीं इसलिये चक्षु निष्फल नहीं होते हैं अतः जो विद्यमान हैं उनसे लड़ो, जिसके उत्तरमें कहता है कि समानसे ही लड़ाई की जाती है, तीन लोकमें आपके सिवाय कोई मेरे साथ लड़ने योग्य नहीं मिला है, जिससे मैं लडूं. 'न लेभे' पद कहनेका आशय है कि आप तो भगवान् हैं अतः इन्द्रियोंसे दीखते ही नहीं हो इसलिये कहा है कि 'न लेभे' नहीं मिला है।।५।।

जो कोई नहीं मिला है तो सो रहो अर्थात् शान्त रहो इसका उत्तर 'कण्डूत्या' श्लोकमें देते हैं.

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम्।
अन्वयां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः।।६।।

मेरी भुजाओंमें खुजली होने लगी, तब उसको मिटानेकेलिए मैं दिग्गजों से लड़नेकेलिए पर्वतोंको चूर्ण करता हुआ उनके पास गया, डरके मारे वे भी भाग गए।।६।।

मेरी भुजाएं पूर्ण बलयुक्त होनेसे युद्धके सिवाय रह नहीं सकती हैं, यदि यों है तो युद्धके अभावमें दूसरा कोई मार्ग खुजली मिटानेकेलिये ग्रहणकर, जिसके उत्तरमें कहता हैं कि मैं दिग्गजोंसे लड़नेकेलिये पर्वतोंको चूर्ण करता हुआ उनके वहां गया, पर्वतोंको भी चूर्णकर छोड़ा, युद्धकेलिये दिग्गज भी गतिहीन देखे. दोनों प्रकार बल क्षीण होता है, शौर्यरूप युद्धसे पराक्रमसे बलरूप वहां, अचेतन पर्वत चूर्ण हो गये, और चेतन दिग्गज भाग गये, इस प्रकार सर्व व्यर्थ हो गया क्योंकि खुजली मिटी नहीं।।६।।

इस प्रकारके अहंकारयुक्त वचन सुनकर भगवान् महादेवको क्रोध उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन 'तच्छ्रुत्वा' श्लोकसे करते है.

तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते।।७।।

ये वचन सुनकर महादेवजी क्रोधित हो कहने लगे कि जब तेरी ध्वजा टूट जाय, तब हे मूर्ख! समझ लेना कि तेरे गर्वको नाश करनेवाले भगवानसे तेरा युद्ध होगा, वे भगवान् मेरे समान हैं. क्योकि जो सर्वसमान हैं, वे महादेवके समान भी हैं।।७।।

सर्वज्ञ भगवान् महादेव क्रोधित हो कहने लगे. इस श्लोकमें क्रिया नहीं है अतः 'आह' यह क्रिया पहले दी हुई है, वह ले लेनी. जब तेरी ध्वजा टूटे, समझ लेना कि अब तेरे साथ युद्ध करनेवाले मेरे समान प्रादुर्भूत हो गये हैं, जिसका चिन्ह ध्वजा टूटना है, वह ध्वजा वंशकी हैं, अर्थात् जिस वंशकी कन्याका जार उपभोगकर लेता है, उस वंशको कहते हैं इसकी ध्वजा टूट गई. अर्थात् इस कुलकी मान-मर्यादा नष्ट हो गई. अचानक उसके रसमें स्थित होने पर केतुका भंग होता है तब तेरे साथ युद्धकर तुम्हारा गर्व भंग करनेवाले, तेरे अहंकारको मिटानेकेलिये ही मेरे समान भगवानसे तेरा युद्ध होगा, मेरे समान भगवान् ही है, जो भगवान् सर्वके समान हैं वह महादेवजीके समान भी हैं।।७।।

इसप्रकार युद्धका होना सुनकर प्रसन्न हुआ यह 'इत्युक्तः' श्लोकमें कहते हैं.

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप।
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः।।८।।

हे महाराज! महादेवजीने जब ऐसा कहा, तब वह कुबुद्धि प्रसन्न हो अपने घर गया, दुर्बुद्धि वह अपने पराक्रमके नाशकारक, महादेवके आदेशकी प्रतीक्षा(इन्तजार) करने लगा।।८।।

महादेवजीने यों कहा तो प्रसन्न हुआ, क्योंकि कुमति था, महादेवजीके वचनोंमें श्रद्धा होनेसे प्रसन्न हो घरको चला गया, अपना कोई उद्यम न करने लगा, केवल महादेवजीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगा, यद्यपि वह आज्ञा अपने वीर्यको नाश करनेवाली थी, तो भी प्रतीक्षा करने लगा, कारणकि पाप बुद्धि था।।८।।

उसके केतुभंगका प्रकार 'तस्योषा नाम दुहिता' श्लोकसे कहते हैं.

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम्।
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन वै।।९।।

उसकी उषा नाम पुत्री थी, जिसने कुंआरी अवस्थामें ही, पहले नहीं देखे और न सुने प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धके साथ स्वप्नमें रतिको प्राप्त किया।।९।।

इस प्रसंगमें अन्य पुराणमें कथा है कि उषाने पति प्राप्तिकेलिये पार्वतीको प्रार्थना की, वह प्रसन्न होके उषाको कहने लगी कि आज जो स्वप्नमें तुझे भजेगा वह तेरा पति होगा. आधिदैविक अनिरुद्धरूप भगवानने स्वप्नसृष्टिमें

मायिकी उसको आलिंगनकर उसमें अपना भाव स्थापित किया अनन्तर उसने वास्तविक आधिदैविक अनिरुद्धके साथ रतिको प्राप्त किया. कुंआरीका किसीसे रतिक्रीड़ा करना प्रतिव्रत्य व्रतके भंगका कारण होता है रतिक्रीड़ा हुई न होगी, केवल भावना हुई होगी, इस शंकाको मिटाते हुए कहते हैं कि नहीं केवल भावना नहीं किन्तु वास्तवमें रतिक्रीडा की, क्योंकि 'कान्तेन' जिससे क्रीडा की, वह कान्त था. तब तो भावनासे ही मनोरथके समान सा स्वप्न हुआ, इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि, स्वप्नसे पहले उसको न देखा था और न सुना था कि ऐसा है कि वेसा है, जिससे कि भावना हो सके, इसलिए यह भावना आदि नहीं थी किन्तु निश्चयसे दैव ही उचित कारण था।।९।।

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम्।।१०।।

वह वहां उसको न देख कहने लगी कि हे कान्त कहां हो? सखियोंके बीच खड़ी रही विह्वल होनेसे बहुत लज्जित होने लगी।।१०।।

पश्चात् उसकी व्रत समाप्तिकर अनिरुद्धके जाने पर स्वप्न पूर्ण हुआ तब वह जगी, वहां शय्या पर स्वप्नवाले स्थान पर उस अनिरुद्धको न देख हे कान्त! कहां गए. यों कहने लगी, सखियोंके मध्यमें ही जगी थी, कारणकि चारोंतरफ सखियां सोती थीं और बीचमें वह सोती यों चुपचाप मानो गुप्त रीतिसे ढूंढती हो, वैसे कहती थी हे कान्त! कहां गये, सोनेके बाद जगनेके समय भी इसके लक्षणोंसे मालूम होता था कि इसका अब भोग हुआ अर्थात् उपभुक्ता है, इसलिए कहा है कि 'विह्वला' घबराई हुई दिखती थी. और लज्जायुक्त थी अर्थात् भीतर लज्जा होनेसे शर्मिन्दा हो रही थी 'भृशम्' पदसे कहा है कि अपनी अवस्थाको यादकर हृदयमें बहुत लज्जित हो रही थी।।१०।।

पार्वतीजीने प्रथम ही 'चित्रलेखा' नामवाली योगिनी उसकी सखी बना दी थी जिससे इसका सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाय, यद्यपि दूसरी भी जानना चाहती थी तो भी वह प्रेरककर्त्री थी अब चित्रलेखाकी कथा कही जाती है 'बाणस्य मन्त्री' इस श्लोकसे.

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता।
सख्यपृच्छत्सखीमूषां कौतूहलसमन्विता।।११।।

बाणके मन्त्री कुम्भाण्डकी कन्या चित्रलेखा थी, वह उषाकी सखी थी,

उषाके इस प्रकारके कहने पर जब अचम्भेमें पड़ गई, तब उससे पूछने लगी।।११।।

राज्य मंत्रीके आधीन होता है, वह मंत्री महादेवने दिया, जिसका नाम 'कुम्भाण्डू' था न कि कुम्भके आकारके समान जिसके अण्डे है, वैसा होनेसे उसको कुम्भाण्ड कहते है, उसकी पुत्री चित्रलेखा थी; 'च' पदका आशय है कि उसकी दूसरी कन्याएं भी उसकी सहेलियां थीं, किन्तु चित्रलेखा विशेष सखी थी जिससे दोनोंका परस्पर प्रेम होनेसे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता, अतः चित्रलेखाने सखी उषासे पूछा कि क्या है? आज ही पार्वतीने कहा, वह हुआ? यह आज ही घबरा गई है, इसलिए चित्रलेखा अचम्भेमें पड़ गई।।११।।

चित्रलेखाने जो कहा, वे अक्षर 'कान्तं मृगयसे' श्लोकमें कहते है.

कान्तं मृगयसे सुभ्रु कीदृशस्ते मनोरथः।
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये।।१२।।

हे सुन्दर भौंहवाली! तू कान्तको ढूंढ़ रही है, कैसा तेरा मनोरथ है? हे राजपुत्री! अब तक तो तेरा पाणिग्रहण भी नहीं हुआ, फिर यह क्या?।।१२।।

भ्रूभंग आदि भावसे जाना जाता है कि अब इसमें कन्यापन नहीं रहा है, कान्तको ढूंढ़ना तो उचित ही है यदि यों कहो तो कहती है कि तेरा मनोरथ कैसा है? जैसा मनोरथ किया जाता है वैसा ही स्वप्नमें देखा जाता है अतः उपाय दृष्ट ही हैं. इसलिए उस मनोरथको पूछती है, कोई मनोरथ होगा यदि यों है तो कहो किन्तु तेरा आजतक किसीने हाथ नहीं पकड़ा है अर्थात् तेरा विवाह आजतक तो हुआ ही नहीं हैं, किसीका बचपनमें विवाह हो जाता है, अनन्तर सखियोंसे सम्बन्ध होता है, तो भी विवाह हुआ है, यह समझा जाता है, विवाह हो जाने पर ही कुलकी कन्याका उसकी प्राप्तिकेलिये मनोरथ उचित है. हे राजपुत्री! यों सम्बोधन देनेसे निरोधसे यथेच्छसे विवाह सम्बन्ध करनेका निवारण किया।।१२।।

'दृष्टः' इस श्लोकसे उषा उत्तर देती है.

उषोवाच

दृष्टः कश्चिन्नरवरः श्यामः कमललोचनः।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः।।१३।।

उषाने कहा कि मैंने किसी एक श्यामवर्ण, कमललोचन, पीतपट पहिने

हुए, लम्बी भुजावाले, स्त्रियोंके मनोंको हरणकरनेवाल, सुन्दर पुरुषको देखा ।।१३।।

कोई विशेष पुरुष देखा जिसका वर्णन करना अशक्य है, वह मनुष्योंमें उत्तम था, सर्वकी आकृति पृथक्-पृथक् होती है, इस आकृतिसे जाना गया है कि वह न देव है न कोई दैत्य है और न कोई दूसरा है किन्तु मनुष्योंमें ही उत्तम मनुष्य है, स्वप्नमें सम्पूर्ण प्राकट्य नहीं होता है इसलिए केवल भ्रम हुआ होगा? इसका उत्तर देती है कि इस प्रकृत विषयमें भ्रम नहीं हुआ है, इसलिये उसकी आकृति, रूप और गुण आदिका वर्णन करती है. सर्वलक्षणयुक्त मनुष्यत्ववाला प्रकार था, श्याम स्वरूप था, कमललोचन होनेसे रूप भी सुन्दर था, पीतवस्त्र धारण करनेसे सौन्दर्य प्रकट था, बड़ी भुजावाला था जिससे उसमें भोगकी योग्यता भी थी, स्त्रियोंके हृदयको हरण करनेवाला था जिससे संभोगकी उसमें सामर्थ्य थी।।१३।।

केवल दर्शन होनेसे ही कान्तपन कैसे? जिसका उत्तर 'तमहं मृगये' श्लोकमें देती हैं.

तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु।
क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे।।१४।।

अधरकी मधु पिलाकर, उस मधुकी इच्छावाली जो मैं हूं, उसको दुःख समुद्रमें फेंककर कहीं भी चला गया, उस कान्तको मैं ढूंढ़ रही हूं।।१४।।

वह मेरा पति बन गया इसलिये मैं उसको ढूंढ रहीं हूं, तेरा पति केवल देखनेसे कैसे बना? जिसका उत्तर देती है कि उसने मुझे अधरामृत पिलाया, यों कहनेसे सब प्रकारके सम्बन्ध हुए यों बताया है. प्रायः जब सम्बन्ध करते हुए सामर्थ्य क्षय होती है, तब स्त्री पुरुषका अधर पान करती है, जबतक सामर्थ्य क्षय नहीं होती हैं, तबतक स्त्रीकी सम्बन्धकी इच्छा बनी रहती है, इससे यह बताया कि केवल दर्शन नहीं हुवा है किन्तु बहुत समय वह ठहरे हैं जिससे सम्बन्ध हुवा है, अधरामृत पिलानेके बाद, कहीं ही चला गया न कि विलीन हो गया क्योंकि अब भी भोगके लक्षण विद्यमान है, स्वल्प सुख देकर चला गया इसलिए विशेष सुख लेनेकेलिए उसको ढूंढ़ना उचित ही है, यों कहनेकेलिए कहती है कि रसको प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न की जिससे मैं उस रसको चाह रही हूं किन्तु वह न देकर दुःख समुद्रमें फेंककर चला गया अतः मैं ढूंढ रही हूं।।१४।।

'व्यसनं ते' श्लोकसे सखीकी प्रतिज्ञा कहते हैं.

चित्रलेखोवाच

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते।
तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश।।१५।।
इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान्।
दैत्यविद्याधरान् यक्षान्मनुजांश्च यथालिखत्।।१६।।
मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम्।
व्यलिखद् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता।।१७।।

चित्रलेखाने कहा कि यदि त्रिलोकीमें कहीं भी होगा, तब तेरा दुःख मैं मिटाऊंगी, जो मनुष्य तेरा मन हरनेवाला है, वह तू बता दे तो उसको मैं ले आऊंगी; यों कहकर उसने देव, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्य आदिके चित्र लिखे, मनुष्योंमेंसे उसने यादवोंके चित्र लिखे, वसुदेवजी, राम और कृष्णके चित्र तथा प्रद्युम्नका चित्र निकाला तब उषा उसको देख लज्जा करने लगी।।१५-१७।।

यदि वह त्रिलोकीमें होगा तो तेरा दुःख दूर करूंगी, कैसे मिटाओगी? मैं चित्र बनाती हूं, उनमें तेरे मनका हरण करनेवाला हो वह मुझे बता दे, उसको मैं ले आऊगी, यह तेरे दुःख मिटानेका उपाय है. यद्यपि 'नरवर' कहा है, तब देव आदिके चित्र लिखने व्यर्थ हैं, तो भी कदाचित् देवादि रूपान्तर धारणकर भोग भोगनेकेलिये आए हों, इसलिये मैं जो देवोंके चित्र बनाती हूं वे भी मनुष्यरूपके ही बनाती हूं, स्त्रियोंकी दृष्टि ऊपरसे नीचे तक होती है अतः प्रथम देवादिके चित्र बनाए, गुण तीन हैं. गुणोंके मिलनेसे देव सगुण हो नव प्रकारके होते हैं, वे नव ही सामान्यरूपसे लिखे है, 'च' पदसे देव तथा मनुष्यके सर्व प्रकार लिखे, मनुष्योंमें श्यामत्व आदि धर्म कहे, इसलिये इस श्यामत्वकी समानता यादवोंमें होती है, अतः मनुष्योंमें यादवोंके चित्र लिखे, उससे भी जो हृदय हरण करनेवाले आदि एक दूसरेसे विशेष धर्म कहे, जिससे यादवोंमें भी श्रेष्ठ शूरसेन और उसके पुत्र वसुदेव एवं राम तथा श्रीकृष्णके चित्र बताये, यद्यपि रामका स्वरूप गौर है तो भी रूपान्तरसे श्याम भी होते हैं, इसलिये उनका भी चित्र लिखा. 'च' पदसे गद आदिके भी चित्र बनाये, प्रद्युम्नका चित्र देख थोड़ा सा भेद समझ, जान लिया कि वह इसका पुत्र होगा, यों निश्चयकर इनको श्वसुर समझ लज्जित हुई, यद्यपि भगवान् वैसा अकृत्रिमरूप करनेमें समर्थ है, तो भी मर्यादामें एक-एक गुणको

प्रकट करनेकेलिये एक ही पदार्थका निर्णय किया है, इस कारणसे जैसा गुण अनिरुद्धका कारण है उससे ही अनिरुद्धका सम्पादन किया है, अन्य किया हुआ कृत्रिम ही होता है इसलिये विलक्षणता तो होती ही है, आधिदैविक स्वरूप देखा अथवा स्वयं अनिरूद्ध मायासे यों आये हैं इसलिए लज्जाके कारण विलक्षणता न जान सकी, इसका पुत्र होगा, भर्ताके पितामह आदिसे लज्जा नहीं यों लौकिक कहते है।।१५-१७।।

पश्चात् अनिरुद्धका चित्र वास्तविक निकला यह 'अनिरुद्धं' श्लोकमें कहते है.

अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते।।१८।।

उषा अनिरुद्धका वह चित्र देख लज्जासे नीचे मुख करने लगी और प्रसन्न हो कहने लगी कि वह यह है, यह है. हे महिपते! सम्बोधन भ्रम निवारणकेलिए है।।१८।।

विशेष प्रकारसे बनाया हुआ वह अनिरुद्धजीका चित्र देख उसका स्वप्नमें देखा हुआ सहजरूप जान प्रथम हुआ सम्बन्ध स्मरणकर उषाने नीचे मुखकर लिया, पश्चात् आदरसे यों कहने लगी कि यह ही वह है, यह ही वह है, अतः अब आप दूसरा चित्र मत बनाओं, अब इसको प्राप्तकर सकूगी जिससे इसको, हर्ष हुआ. जिसकेलिये 'स्मयमाना' पद दिया है, महीपते! यह सम्बोधन भ्रमके अभावकेलिये दिया है.

वरका निश्चयकर पश्चात् उसको ले आनेकेलिये गई, जिसका वर्णन 'चित्रलेखा' श्लोकसे करते है.

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी।
ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम्।।१९।।

योगिनी चित्रलेखा उसको कृष्णका पौत्र जानकर हे राजन्! शीघ्र ही कृष्णसे पालन की हुई द्वारका गई।।१९।।

यह कृष्णचन्द्रका पौत्र है, इसलिये स्त्रियोंका हितकारी ही होगा, स्वयं योगिनी है. इसलिये योगाभ्याससे उसके आगे रमण करना जान गई, इसी कारणसे ही शीघ्र गयी, अन्य प्रकार आने-जानेकी शक्ति रक्षकोंमें नहीं है, राजन्! यह सम्बोधन सावधान होनेकेलिये दिया है, इस समय इस कार्यका उद्देश्य लेकर

द्वारकाका स्वयं श्रीकृष्ण पालन करनेवाले थे, अर्थात् नगरके अध्यक्ष थे, यदि आप न होते, देवता आदिकोंसे रक्षित होती, तो दूसरा कोई प्रवेश नहींकर सकता।।१९।।

तत्र सुप्त स्वपर्यंके प्राद्युम्निं योगमास्थिता।
गृहीत्वा शोणितपुरे सख्यै त्रियमदर्शयत्।।२०।।

वहां वह अनिरुद्ध अपने पलंग पर सो रहा था, यह योग धारणकर उसको लेकर शोणितपुर आ गई और अपनी सखीको अपना प्रिय दिखा दिया।।२०।।

वहां भी भगवदिच्छासे अनिरुद्ध भी नहीं जागता था. यदि जागता हो तो वह स्वयं न जावे. अपने पलंग पर कहनेका भावार्य है कि गाढनिद्रामें सो रहा था, राजालोग तो सावधान रहते हैं, यह इसप्रकार कैसे सो रहे थे? इस शंकाका समाधान करते हैं कि प्रद्युम्नका बेटा है अतः जैसे पिता निर्भय थे वैसे यह भी निर्भय है, जिससे गाढ़ निन्द्रामें थे, जिस गाढ़ निद्राके कारण प्रद्युम्नका हरण हुआ तो यह भी हरण हो रहा है अथवा भगवदिच्छासे हरण हुवा है, शत्रुका पराभव और स्त्रीकी प्राप्ति ये दोनों कार्य, दोनोंके समान हुवे हैं, शक्तिका हास तो निमित्त मात्र हुआ है, यों समझा जाता है, वह उसको ले आनेकेलिये लौकिक उपाय न कर योगमें पूर्णरीतिसे स्थित रही, योग अलौकिक उपाय है वह करने लगी उसको ही बालककी भांति पलंगसे लेकर शोणितपुरमें आके उषाको 'यह तेरा प्यारा ले आई हूं' यों कहकर उसको 'अनिरुद्ध' दिखाया, पलंग परसे उठाकर लानेसे क्या वह जगे नहीं? जिसकेलिये कहा है कि यह योगका प्रभाव है 'शोणितपुर' नामसे ही उसका भयानकपन दिखाया है।।२०।।

सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदिताननाः।
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम्।।२१।।

वह भी उस सुन्दर पतिको देखकर प्रसन्नमुखी हुई, जिस गृहको नहीं देख सके, ऐसे अपने गृहमें अनिरुद्धजीके साथ रमण करने लगी।।२१।।

शोणितपुरमें पहुंच जानेके अनन्तर स्त्रीमण्डलमें जब गया तब जगा, पश्चात् प्रसन्नमुखवाली वह उषा उसके साथ रमण करने लगी 'च' पदसे यह बताया कि वह भी उषाके साथ रमण करने लगा, प्रसन्नमुखी कहनेसे इसका निर्भयपन प्रकट किया है, क्योंकि विषयका सौन्दर्य है, जिससे भय नहीं लौकिक भी हेतु है, जिसकेलिये कहा है कि जिस गृह पर पुरुषोंकी दृष्टि न पड़ सके, ऐसे

अपने घरमें रमणका कार्य करने लगे. स्त्रियां, मातादि भी सब कन्यामें एवं अनिरुद्धमें प्रेमयुक्त थी इसलिए सबका एकमत था जिससे किसीको मालूम होने न दिया. प्रद्युम्नका पुत्र कहनेका भावार्थ यह है कि सर्व प्रकार कामकी पूर्ति करनेवाला है।।२१।।

छिपकर जो रमण होता है, वह क्लेश रमण है उसका निषेध 'परार्ध्य' श्लोकसे करते है.

परार्ध्यवासः स्रग्गन्ध धूपदीपासनादिभिः।
पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः।।२२।।

अमूल्य वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, धूप, दीप और आसन आदि एवं पान, भोजन तथा भक्ष्य, मधुर वचन और सेवासे उषाने पूजन किया।।२२।।

सर्व, वस्त्र आदि पदार्थ, जो कुछ पूजाकेलिये आवश्यक थे वे सब अमूल्य थे, धूप, दीप, आसन आदि इनसे देवकी तरह पूजा हुई, स्नान किये हुएको पहले वस्त्र उसके बाद माला पीछे गन्ध, केशोंको संस्कार करनेकेलिये धूप, इसके बाद घरमें प्रवेश होने पर आरती पीछे बैठनेकेलिये आसन पश्चात् रुचि उत्पन्न करनेवाले मादक पदार्थोंसे बनाया हुवा पेय वस्तु, भोजन और ताम्बूल ये क्रमशः तृप्ति पर्यन्त बार-बार देने, 'च'का भावार्थ है, उपयुक्त पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पदार्थ भी थे, मानस पदार्थ तो सिद्ध ही थे इसलिये वे बाहरके पदार्थ निरूपणकर बताये है, वाणी तथा कायासे सेवा की. इसप्रकार सर्वभावसे पूजित हुआ।।२२।।

वह भी उनकी इच्छानुसार कृति करने लगा जिसका वर्णन 'गूढः कन्यापुरे' श्लोकमें कहते हैं.

गूढः कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया।
नाहर्गणान् स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः।।२३।।

बढ़े हुए स्नेहवाली उस उषाने अनिरुद्धकी इन्द्रियोंको हर लिया, जिससे वह कन्याके अन्तःपुरमें गुप्त रहने लगा, उसको यह भान न हुआ कि यहां रहते हुए कितने दिन बीत गए हैं।।२३।।

निरन्तर सेवाओंकी विविध प्रतीति होनेसे वहां रुक गए, उषाका स्नेह बढने लगा जिससे निरन्तर नवीन-नवीन साधन प्राप्त होते थे, इसी कारणसे उसकी दूसरी किसी क्रियाका स्मरण ही नहीं रहा, इसलिए कितने ही दिन यहां

रहते हुवे हुए हैं, इसका भान तक न रहा, उषाने इन्द्रियोंका हरणकर लिया था, जिससे पूर्वकी स्त्रियोंको भी भूल गया, यों समझने लगा कि सर्वोत्तम यह ही है।।२३।।

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम्।
हेतुभिर्लक्षयांचक्रुरापीतां दुरवच्छदैः।।२४।।
भटा आवेदयांचक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम्।
विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम्।।२५।।

यादवोंमें वीर अनिरुद्धसे मुक्त हो जानेसे नष्ट व्रतवाली उस उषाको पहरेदारोंने लक्षणोंसे पहचान लिया और वे आकर कहने लगी कि हे राजन्! हम आपकी कन्याकी चेष्टाओंसे पहचान गए हैं कि इस कन्याने कुलको कलंकित किया है।।२४-२५।।

पुरुषसे मुक्त होनेके कारणसे जिसका ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट हो गया है, जिसका ज्ञान गर्भके ठहरनेके लक्षणोंसे अथवा भोग होनेसे जो कन्यामें भाव उत्पन्न हो जाते हैं, उन लक्षणोंसे जाना जाता है कि इस कन्याने अपना ब्रह्मचर्य व्रत तोड दिया है, उस नष्ट ब्रह्मचर्य व्रतवालीको पहरेदारोंने पहचान लिया, 'यदुवीर' पदसे यह बताया कि पूर्णतया भोग हुआ है, उससे चिन्ह स्पष्ट देखनेमें आते हैं, जैसेकि वह पीतवर्णवाली हो गयी थी, भोगके श्रमसे अथवा गर्भस्थितिसे स्त्रियोंका पीतवर्ण हो जाता है, जिन लक्षणोंको छिपाया नहीं जा सकता है, ऐसे लक्षण देख पहरेदारोंने जाकर राजाको कह दिया, क्योंकि उनको भय लगा कि हम न बतावेगे तो दोषी बनेंगें कन्याके अन्तःपुरके जो पहरेदार थे उन्होंने इस प्रकार कहा, हे राजन! इतना सम्बोधनकर क्यों कहा, इसलिये वह सम्बोधन दिया कि अब तो यह कहना अनुचित दीखता है, किन्तु इससे बादमें बहुत अनिष्ट होनेवाला है, क्योंकि यह विचेष्टित है अर्थात् व्यभिचार है. 'लक्षयामः' पदसे बताया कि यह अब केवल तर्क मात्रसे प्रमाणित है. यों है तो कोनसा दोष है? वहां कहते है कि 'कुलदूषणम्' यद्यपि पापादिसे उनको भय नहीं है, तो भी दैत्य व्यभिचारी नहीं होते हैं, उनके कुलमें व्यभिचार दूषण है, जैसे देवकुलमें झूठ बोलना दूषण है।।२४-२५।।

तो कौन आता है? इस शंकाका उत्तर 'अनपायिभिः श्लोकसे देते है.

अनपायिभिरस्माभिः गुप्तायाश्च गृहे प्रभो।

कन्याया दूषणं पुम्भिः दुष्प्रेक्षाया न विद्महे।।२६।।

हे प्रभो! घरमें गुप्त रहनेवाली कन्याके घरका हम प्रखण्ड पहरा दे रहे हैं, जिससे उसको कोई देख भी न सके, कन्याको दूषण पुरुष द्वारा ही लगता है, किससे, कैसे लगा; वह हम नहीं जानते हैं?।।२६।।

अपने आप ही उसने विवाहकर लिया है, इसका भी 'कन्याया' शब्द कहकर निषेध करते हैं, इससे तर्कसे जिस विषयका ज्ञान हुवा है, उसका युक्तिसे बोध भी कहा है, विवाह न होनेसे ही दूषण लगा है, यों हम समझते हैं कैसे लगा है वह हम नहीं जानते है, यदि वह कह दे कि यों लगा है तो ये भी मारनेके योग्य हो जावे।।२६।।

पश्चात् निर्णय करनेकेलिये स्वयं राजा प्रवृत्त हुवा यह 'ततः' श्लोकसे कहते है.

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद् यदूद्वहम्।।२७।।

बाणासुर कन्याका दूषण सुन दुःखी हुआ, तुरन्त ही कन्याके घर आया तो वहां अनिरुद्धको देखा।।२७।।

शस्त्र आदिसे जैसे कोई व्यथित होता है उससे भी बाणासुर विशेष व्यथित हुआ, इस कारणसे तुरन्त कन्याके घर पहुंच गया, वहां प्रथम अनिरुद्धको देखा, उसको 'यदूद्वह' कहनेका भावार्थ यह है कि वह महान शूरवीर है और यदुकुलमें उत्पन्न हुआ है।।२७।।

'कामात्मजं' श्लोकसे देखे हुए अनिरुद्धके निर्भयपनका वर्णन करते हैं.

कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम्।
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा स्मितावलोकेन च मण्डिताननम्।।२८।।

कामदेवके पुत्र, लोकमें सबसे विशेष, सुन्दर, श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, कमलसम नेत्र, लम्बी भुजावाले कुण्डल और केशोंकी कान्तिसे तथा मन्द हास्यसे शोभायमान मुखवाले उसको देख अचम्भेमें पड़ गया।।२८।।

कामका पुत्र कहनेसे यह बताया है. स्त्रियोंका अत्यन्त हितकारी है. भुवनमें ऐसा कोई दूसरा सुन्दर नहीं, यों कहनेसे बताया है कि सबोंको मोह लेता है, श्यामस्वरूप, पीत वस्त्रवाला कहनेसे भगवत्सारूप्य एवं भगवदीयत्व जताया है, कमलनयन कहनेसे सबको आनन्द देनेवाला कहा है, बड़ी भुजा कहनेवाला

कहनेसे, वीरपन तथा भोग योग्यता प्रकट की है, स्वभावसे ही महान् है क्योंकि कुण्डल और कुन्तलोंसे शोभित मुखवाला है, मन्दहास्य युक्त अवलोकनसे बताया है कि स्वभावसे ही मनोहर है, यों कहनेसे सिद्ध किया है कि यह वर सर्व लक्षणोंसे पूर्ण है।।२८।।

इसने चोरीसे(छिपकर) व्यभिचार किया है, इसका भी निषेध 'दीव्यन्त' श्लोकसे करते है.

दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाऽभितृष्णया तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम्।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः।।२९।।

बहुत तृष्णावाली प्यारीके साथ पासोंसे(चौपड़) खेलता हुआ, उसके अंगसंगसे जिसके स्तनोंकी केसर लगी थी, ऐसी माला छाती पर धारण की हुई थी, वह माला बसन्त ऋतुके पुष्पोंसे बनी हुई थी, इस प्रकार उषाके पास ही बैठे हुए उसको देख अचम्भेमें पड़ गया।।२६।।

जिस प्रकार विवाह किये हुए स्त्री–पुरुष आपसमें पासोंसे खेलते हैं वैसे उसमें ही निष्ठावाली प्रियासे पासोंसे खेलते हुएको देखा, वह क्रीडाकेलिये नहीं थी, किन्तु रसका पोषण करनेवाली थी, इसलिये कहा है कि 'अभितृष्णया' वह प्रिया उषा सर्वप्रकार सम्बन्ध चाहती है, अथवा 'अभितृप्तया' सम्भोगसे अत्यन्त तृप्त हुई है, अथवा सर्वप्रकार प्रकाशमान अर्थात् बिना संकोचके आनन्दित हो, रसपोषार्थ निर्भय क्रीड़ाकर रही है. ऐसी उषासे मिलकर ही अनिरुद्ध क्रीड़ाकर रहे थे, सर्व सन्देह निवृत्तिकेलिये कहते है कि उसके अंगके सङ्गसे स्तनोंका कुंकुम जिस मालामें लगा हुआ है वैसी मालाको भुजाओंके मध्य अर्थात् छाती पर धारण किये हुए अनिरुद्धजी थे, जिस समय उसको देखा वह समय अतिशय रसवाला था. बसन्तके पुष्पोंसे बनी हुई माला थी जिस पर भ्रमर गुजारकर रहे थे वह माला सुगन्ध और रूप दोनोंसे रसका पोषणकर रही थी, बाणासुरके आने पर भी उसके आगे उसी प्रकार निर्भय बैठे रहे, उसके आनेसे इसको किसी प्रकारका विचार व भय न हुआ, इस कारणसे बाणासुर अचम्भेमें पड़ गया।।२९।।

पश्चात् उसके सेवक, सम्बन्धी इस कार्यको सहन न कर सके जिससे लड़ने लगे, जिसका वर्णन 'स तं प्रविष्टं' श्लोकमें कहते है.

स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिर्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो यथान्तको दण्डधरो जिघांसया।।३०।।

शस्त्रधारी अनेक योद्धोंसे आवृत्त उस बाणासुरको घरमें आया हुआ देख अनिरुद्ध भी उनको मार डालनेकी इच्छासे लोहका परिघ लेकर दण्डधर यमराजके समान उठ खड़ा हो गया।।३०।।

शस्त्र हाथमें लिये सेवकों सहित श्वसुरको भीतर आया हुआ देख, यह मारेगा यों निश्चय जानकर, मधुवंशमें उत्पन्न होनेसे अपने सम्बन्ध होने पर मद उत्पन्नकर देता है वह अपना मद प्रकट करे इसमें क्या आश्चर्य है, क्योंकि आप साक्षात् स्वयं मदरूप ही हैं, अतः युद्धकेलिये आप अकेले तैयार हो गये, कैसे तैयार हुवे जिसका वर्णन करते है, लोहसे बना हुवा अथवा मौर्वी कोई तृणकी जाति वा लोहकी जाति होती है उससे बना हुआ 'परिघ' लेकर विशेष प्रकारसे खड़े हो गये, निकट आने पर सर्वथा प्राण ग्रहणकर लेंगे यों जतानेकेलिए कहते हैं कि 'यथान्तको दण्डधर' जैसे दण्डधारी यमराज मारनेकी इच्छासे खड़ा होता है, वैसे ही ये भी खड़े हो गये।।३०।।

पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'जिघृक्षया' श्लोकसे कहते है.

जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सुकरयूथपोऽहरत्।
ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः।।३१।।

पकड़ लेनेकी इच्छासे चारोंओरसे आते हुए इन योद्धाओंको जैसे बड़ा सूकर कुत्तोंको मारे वैसे मारने लगे, मार खाते हुए उनके सिर फूट गए और हाथ-पांव आदि टूट गए, जिससे वे योद्धा घरसे बाहर निकलकर भाग गए।।३१।।

इसको पकड़ना ही चाहिए न कि मारना चाहिए, इस विचारसे चारोंओरसे पकड़नेकेलिये आने लगे पश्चात् आप भी चारोंओरसे आते हुए उनको पकड़कर दूर ले गये अथवा मारने लगे, जैसे सूकर निकट जाकर दान्तोंसे कुत्तोंको मारते हैं आप किसीसे पराभूत न हुवे. वे दूरसे ही शब्द करते रहे निकट आनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं थी, पश्चात् जो हुआ उसको कहते हैं, वे मारे गये, मस्तक फूट गये और भुजा, पांव आदि भी टूट गये यह मरनेके प्रसहनमें हेतु है अतः प्रथम संकीर्ण होनेसे घरसे निकले, फिर वह भी टूटे हुवे अवयववाले भाग गये।।३१।।

वे जब भाग गये तब अलौकिक प्रकारसे इसको बांध लिया यह 'तं नागपाशैः' श्लोकमें कहते हैं.

तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह।

ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत्।।३२।।

अपनी सेनाको मारते हुए उस अनिरुद्धको कुपित बलवान बाणासुरने नागपाशोंसे बांध लिया, अनिरुद्धको बांधा हुआ सुनकर उषा शोक और दुःखसे व्याकुल हो आंखोंमेंसे आंसू डालती हुई रुदन करने लगी।।३२।।

नागपाशोंसे क्यों बान्धा? जिसका कारण यह था कि भगवानने इसके पिता बलिको नागपाशोंसे बान्धा था, अतः इसको बान्धकर पिताके वैरका प्रतीकार लिया, इसलिए यहां 'बलिनन्दन' नाम दिया है, अलौकिकबलसे बान्धनेमें दूसरा कारण देते हैं कि अपनी सेनाको मारते देखा. इसलिये भी बान्धा कि अवतार विशेषमें जो नागपाश भगवानको भी बान्धते हैं तो उसके अंशोंको बान्धे इसमें कहना ही क्या है? नागपाशसे बान्धनेके कारण अनिरुद्धसे बाणासुर बलवान था, अनिरुद्धको न मारते तब जाननेकी इच्छा करके बादमें वैसा करना(मारना) अनुचित नहीं है, इस प्रकार स्वयं आपही महादेवसे पूछकर विवाहकी तरह अनुमोदन करे, अतः यदि अपनी सेनाको मारता है, तो भी जामाता है, यों निश्चयकर बन्धन ही किया मारा नहीं और वह बन्धन भी दूर गये हुएका, तब उषा आश्चर्यसे उसका बन्धन सुनकर, भर्ता होनेमें कोई सन्देह नहीं हैं जिससे आंखोंमें आंसू आ जानेसे अपना अभिप्रायः प्रकट करती हुई रोने लगी, इससे अनिरुद्ध जार है, यह शंका मिटा दी।।३२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (उत्तरार्ध) अध्याय ५९ की श्रीवल्लभाचायचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाके राजस फल अवान्तर प्रकरणके षष्ठ अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ६०

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बाणासुरका युद्ध

चतुर्दशे तु विजयः शिवादीनां निरूप्यते।
निरोधो राजसः पूर्णो भविष्यति यतः फले।।का.१।।

उत्तरार्धके इस चौदहवें अध्यायमें शिव आदिको हरानेका निरूपण है, जिससे फलमें राजस निरोध पूर्ण होगा।।१।।

भक्तवत्सलता दृष्टा न निरोधः क्वचित्तथा।
अतोऽन्यनाशशङ्कापि भजनान्तरबाधिका।।का.२।।

भक्तों पर वात्सल्यभाव देखा, किन्तु इस प्रकार वहां भी निरोध देखनेमें नहीं आया है अर्थात् किसी अन्यदेवके साथ विरोधकर निरोध करना नहीं देखा है अतः अन्यदेवसे नाश हो जानेकी शंका[१] भी भजनमें बाध करनेवाली है।।२।।

१.शंका अर्थात् भय, इसको मिटानेकेलिये अन्य देवों पर विजय पानेकी कथाका निरूपण किया है.

न बाधते हरिः क्वापि विरुद्धोऽपि कथञ्चन।
अक्लिष्टत्वाय तु हरेरुपेक्षात्र निरूप्यते।।का.३।।

विरुद्ध होने पर भी भगवान् उसको किसी भी प्रकारसे कभी भी दुःख नहीं देते हैं, हरिकी उपेक्षाका वर्णन इसलिये है कि वह बिना क्लेश कर्म करे।।३।।

प्रद्युम्नवत्तु तस्यापि नयनेन्वेषणं नहि।
अत्रापि नारदः प्रोक्तः प्रमाणं चिन्तनाधिके।।का.४।।

प्रद्युम्नकी तरह अनिरुद्धका अन्वेषण(तलाश) नहीं हुआ, किन्तु अधिक चिन्तन होने पर यहां भी नारदजीने सूचना दी है।।४।।

सर्वभावेन युद्धाय ज्वरोपाख्यानमुच्यते।
तामसस्तु ज्वरोऽत्रैव समुत्पन्नस्तथोत्तमः।।का.५।।

सम्पूर्णरीतिसे युद्धका वर्णन हो, इसलिये ज्वरका उपाख्यान कहा गया है, तामस ज्वर यहां ही उत्पन्न हुआ है, प्रसिद्ध ज्वर आगे ही उत्पन्न था, शेष वैष्णव उत्तम ज्वर भी यहां ही उत्पन्न हुआ है।।५।।

शीतरोरौ पृथक् पूर्वमुत्पन्नौ मिलितौ नहि।
अतो हि भगवानत्र मेलयामास सर्वथा।।का.६।।

शीत और उष्ण ज्वर तो पूर्व ही पृथक् उत्पन्न हुवे हैं, साथमें नहीं हैं, यहां तो ज्वर शिवकी कलारूप तामस हुवा है अतः भगवानने सर्वप्रकारसे उनका मेल कराया है।।६।।

कारिकार्थ पूर्ण.

पूर्व अध्यायके अन्तमें अनिरुद्धके बन्धनकी कथा कही है, इस प्रकार शोणितपुरकी कथा हो जाने पर अब द्वारकामें क्या हुआ वह कहना चाहिये, इस कारण वहां जो प्रथम हुआ वह 'अपश्यतां' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत।
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम्।।१।।

हे भारत! वर्षाऋतुके चारमास बीत गये, किन्तु अनिरुद्धजीका कहीं भी पता न लगा जिससे उसके बान्धव शोककर रहे थे।।१।।

'च' पदसे किस प्रकार अनिरुद्ध गया जिसका भी संग्रह किया है अर्थात् उसके जानेके प्रकारको जानना चाहा किन्तु जान नहीं सके, अनिरुद्धका भी यदि निरोध हो जावे तो सब अन्यथा हो जायगा, इसलिये शोक उसके बान्धवोंको तो हुआ किन्तु दूसरोंको भी हुआ यह दूसरा 'च' पद देकर कहा है, भारत! यह सम्बोधन विश्वासार्थ कहा है, जब पता न लगा तो चुप क्यों बैठ गये? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वर्षाऋतु थी जिससे उस ऋतुमें युद्धादिकेलिये जानेका निषेध है अतः वर्षाके चार मास यों ही चले गये, किन्तु सर्वका उसमें प्रेम था इसलिये सब शोककर रहे थे, किस प्रकार गया, इसकी प्रसिद्धि न होनेसे लौकिक प्रकारसे उसका कोई प्रमाण(सबूत) न मिल सका, इसलिये ढूंढ़ने पर भी पता न लगा।।१।।

अतः नारदजीके वाक्यसे, शोकमग्न वैष्णवोंको प्रसन्न करनेकेलिये, युद्धकेलिये प्रवृत्त हुऐ, 'नारदात्' श्लोकसे कहते हैं.

नारदात् तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च।
प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः।।२।।

अनिरुद्धके कर्म तथा बान्धे जानेका समाचार नारदजीसे सुनकर, कृष्ण है देव जिनका, ऐसे यादव शोणितपुर गये।।२।।

अनिरुद्धका वृत्तान्त और बन्धन, प्रारम्भसे कथा अर्थात् वहां ले जाना,

बाणासुरकी कन्यासे रमण एवं युद्ध पश्चात् बन्धन आदि नारदजीसे सुनकर युद्धकेलिये शोणितपुर गये, वह शोणितपुर महादेवसे रक्षित है उनसे विरोध होनेका सम्भव होनेसे वहां यादव कैसे गये ? इस शंकाके मिटानेकेलिये कहा है कि 'कृष्ण देवताः' यादवोंके रक्षक देव श्रीकृष्ण हैं अतः उनमें किसीसे भी लड़कर जीत जानेकी सामर्थ्य है इसलिये निःशंक होके गये।।२।।

लौकिक सामर्थ्य भी है, यह कहनेकेलिये महत्पुरुषोंके नाम 'प्रद्युम्नो' श्लोकसे कहते हैं.

प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः।।३।।
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो दिशम्।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्वतर्षभाः।।४।।

राम, कृष्णके अनुयायी प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदि यादवोंने बारह अक्षोहिणी सेना ले बाणासुरके पुरको चारोंओरसे घेर लिया।।३-४।।

सात्यकि, बलभद्रका भ्राता गद, भगवानका पुत्र साम्ब और प्रद्युम्न ये चार मुख्य महारथी गिनाये 'अथ' पदसे भिन्न प्रक्रमसे सामान्य यादवोंको गिनते हैं, और 'च'से भगवानके सारण आदि भ्राताओंको कहा है वे भी चार सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदि गिने है, इस प्रकार मुख्य तथा गौणोंमें आठ प्रकारके आगेवान कहे हैं, सब ही रामकृष्णकी आज्ञानुसार चलनेवाले थे कोई भी उद्धत वा स्वतन्त्र नहीं था दोनोंको इसलिये कहा जिससे सम्पूर्ण शक्तिका ज्ञान हो जाये, उनको स्वाभाविक बारह अक्षौहिणी सेना है वह सेना ले आये, सब परस्परका वैमनस्य छोड़ एक होके, बाणासुरके नगरको सबतरफसे घेर लिया, कहीं भी सेनाका विच्छेद न हुआ 'सात्वतर्षभा' पदसे यह बताया है, यादवोंमें श्रेष्ठ है जिससे उनकी निर्भयता प्रकट की है।।३-४।।

बाणासुरने जो अपराध किया, वह तो पहले ही सिद्ध हो चुका था इसलिये जाते ही चारोंतरफ नाश करने लगे, जिसका वर्णन 'भज्यमान' श्लोकसे कहते हैं.

भज्यमानपुरोधानप्राकाराट्टालगोपुरम्।
प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ।।५।।

चारों तरफ पुर, बगीचे, गढ़, कोठे और दरवाजे टूटने लगे, यह देख बाणासुर कोपविष्ट हो उतनी ही सेना ले बाहर आया।।५।।

नगरके बीचवाले खण्डोंको[१], जैसे बड़े नगरोंमें बीचमें छोटे-छोटे पुर होते हैं, फुलवारियां, कोट, महलोंमें ऊपर बने हुए कोठे, नगरके द्वार इनको भगवदीयों द्वारा टूटता हुआ देख अपनी वीरता दिखानेकेलिये उतनी ही सेना लेकर नगरसे बाहिर आया, जो सेना कम ले आवे मान कम हो जावे, अधिक सेना ले आवे तो कदाचित् यादव भाग जावे, इसलिये समान सेना ले आया।।५।।

१.बड़े नगरोमें छोटी-छोटी बस्तियां होती हैं जैसे जोधपुरमें सरदारपुरा आदि.

शंकर भगवानने समझ लिया कि श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं, उनको यह मार न सकेगा, इसलिये यह भूला है क्योंकि मूर्ख है अतः इसकी रक्षाकेलिये स्वयं शिव शत्रु बनकर आये जिसका वर्णन 'बाणार्थं' श्लोकमें करते हैं.

बाणार्थं भगवान् रुद्रः ससुतः प्रमथैर्वृतः।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः।।६।।

बाणासुरकेलिये भगवान् शंकरजी आप, अपने पुत्र तथा पार्षदोंको संग ले नन्दी पर सवार हो राम-कृष्णसे युद्ध करनेकेलिये आये।।६।।

रुद्रका विशेषण 'भगवान्' पद देकर यह सिद्ध किया है कि यह रुद्र बनावटी नहीं है किन्तु साक्षात् स्वयं है, 'रुद्र' पदसे यह बताया है कि रोगोंको नाश करनेवाले होनेसे यह रोग भी मिटा देंगे, अकेले नहीं आये है किन्तु अपने पुत्र कार्तिकेयके साथ आये है जिसका भावार्थ है कि सर्व देव भी आये हैं क्योंकि कार्तिकेय देवताओंके सेनापति हैं, जहां सेनापति लड़ने जावे वहां सेना तो अवश्य जायेगी ही, देवगण तो थे किन्तु महादेवजी अपने भूतगणोंसे भी आवृत्त थे, बाण दैत्य है अतः वे भूतगण इसके सहज साथी हैं, इससे एक तरफ संवत्सरात्मक काल सहित भगवान् और दूसरी तरफ सब ही थे किन्तु यह बहुत कामका नहीं था, अपने बूढ़े नन्दी पर सवार हो मानो नाट्य करते हों यों राम-कृष्णके साथ युद्ध करने लगे, वास्तविक तो शिवजी उन दोनों(राम-कृष्ण)के ही हैं।।६।।

'आसीत्' इन दो श्लोकोंसे युद्धका वर्णन करते हैं.

आसीत् सुतुमुलं युद्धम् अद्भुतं रोमहर्षणम्।
कृष्णशङ्करयो राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि।।७।।
कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः।

साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः।।८।।

आपसमें बड़ा तुमुल(भयंकर) युद्ध ऐसा होने लगा जिसको देख रोयें खड़े हो गये, हे महाराज! श्रीकृष्ण और महादेवजीका, प्रद्युम्न और स्वामि कार्त्तिकेयका, कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनोंका बलरामजीके साथ, सांब और बाणासुरके पुत्रका, बाणासुर और सात्यकिका द्वन्द युद्ध होने लगा।।७-८।।

यह युद्ध ऐसा भयंकर होने लगा जिसमें निरन्तर शस्त्रपात हो रहा था, सुनते ही रोंयें खड़े जो जाते हैं. किनका किनसे युद्ध हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि श्रीकृष्ण और शंकरसे, हे राजन् सम्बोधनसे बताया है कि कदाचित् महान् भी युद्ध करते हैं, प्रद्युम्न श्रीकृष्णके पुत्र और कार्तिकेय श्रीशिवके पुत्र दोनोंकी लड़ाई होने लगी, कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनोंकी, बलभद्रके साथ, ये दैत्य और सिद्ध थे, बाणके पुत्रके साथ साम्बकी हुई, बाणके पुत्रका नाम प्रसिद्ध नहीं है केवल बाणपुत्र ही कहा जाता है, बाणासुरके साथ महारथी सात्यकि भिड़ गये।।७-८।।

ऊपरके श्लोकमें पांच जोड़ोंका आपसमें युद्ध हुआ कहकर अब वह ऐसा सर्वोत्कृष्ट युद्ध हुआ जिसको देख ब्रह्मादिकोंको भी आश्चर्य होने लगा, जिसका वर्णन 'ब्रह्मादयः' श्लोकमें करते हैं.

ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन्।।९।।

ब्रह्मा आदि देवोंके स्वामी, मुनिगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएं और यक्ष विमानोंमें बैठ देखनेकेलिये आये।।९।।

देवोंके स्वामी इन्द्र आदि, सनकादि मुनिगण कपिल आदि सिद्ध, ये तीन उत्तम, सिद्ध, चारण, गन्धर्व अप्सराए और यक्ष ये निकृष्ट कोटिके हैं, इस प्रकार छ प्रकारके देवोंके वर्णनसे सर्वदा निरूपण किया है, अर्थात् सर्व प्रकारके देव विमानोंसे आये, जिसका कारण यह था कि युद्धके देखनेमें लीन होने पर देहका भान भूल जानेसे पतन न हो जावे।।९।।

पश्चात् दोनों लड़नेवाले पक्षोंका आपसमें लड़नेका वर्णन 'शंकरानुचरान्' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें करते हैं.

शङ्करानुचरान् शौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान्।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान्सविनायकान्।।१०।।
भूतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान्।

द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैर्भृशम्।।११।।

महादेवके अनुचर(नौकर) जो भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, बेताल, विनायक प्रेत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षस हैं, उनको श्रीकृष्ण भगवानने शार्ङ्गधनुषसे छूटे तीक्ष्ण अनीवाले बाणोंसे मार भगाया ।।१०-११।।

देव तो अपने ही है, इसलिये शंकरके इन अनुचरोंको ही मारने लगे, जिनने प्रथम प्रतिज्ञा की थी, 'शौरि' नाम पिताके नामसे निर्देष करनेकेलिये दिया है, भूत, प्रमथ और गुह्यक ये तीन और डाकिनी आदि तीन, भूत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड, ब्रह्मराक्षस और विनायक, इसीतरह ये बारह प्रकारके महादेवके गण है, कालग्रस्त इन सबोंको शार्गधनुषसे फेंके हुए तीखी अनीवाले समर्थ बाणोंसे बहुत दूर भगाने लगे, क्योंकि बाणोंके प्रहारोंसे व्यथित हो गये थे इसलिये ये भागने लगे।।१०-११।।

पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे।
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः।।१२।।

महादेवजी पिनाक धनुषमें अस्त्रोंको चढ़ाकर श्रीकृष्ण पर फेंकने लगे, किन्तु शार्गधनुषधारी भगवान् कृष्णने अचम्भेमें न पड़कर हरएक अस्त्रको अपने अस्त्रोंसे शान्त कर दिया।।१२।।

महादेवजीने देखा मेरे भृत्य भाग गये तब स्वयं महादेव अपने पिनाक धनुषसे अनेकप्रकारके अस्त्र भगवान् पर फेंकने लगे आदिमें समानता दिखाने केलिये दो धनुषका ग्रहण कहा है, भगवानने उसका निराकरण ही करा दिया है न कि उनको दूर किया जिसका वर्णन करते है 'प्रत्यस्त्रैः' हरएक अस्त्रका अस्त्रसे निराकरण किया है, युद्ध लौकिक होनेसे, शार्गधनुषको भगवानने हस्तमें धारण किया है, अस्त्रका निराकरणकर जय प्राप्त की, तो भी गर्व नहीं, इसलिये 'अविस्मितः' विशेषण दिया है, यह लौकिक आग्रहका द्योतक(प्रकट करने-वाला) है।।१२।।

विशेष वर्णन 'ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्र' श्लोकमें करते हैं.

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्र वायव्यस्य च पार्वतम्।
आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च।।१३।।

ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रसे, वायव्यको पर्वतास्त्रसे, अग्नि अस्त्रको वर्षाके

अस्त्रसे, पाशुपत अस्त्रको नारायण अस्त्रसे शान्त कर दिया।।१३।।

श्लोकमें प्रथम 'च'से सब प्रकारके ब्रह्मास्त्र कहे यहां पहलेसे पीछेवाले बलवान् नहीं है, किन्तु अस्त्रका पूर्णज्ञान और बल ही इसमें प्रयोजक है, इसलिये लौकिकमें भी भगवानका उत्कर्ष दिखाया है, वायव्यास्त्रमें भी उसके सर्वप्रकार समझने चाहिये, उसका पार्वतास्त्र ही निवारक है, वायुको दूसरी वायु नहीं मिटा सकती है. आग्नेय अस्त्रका जलास्त्र निवारक है क्योंकि अग्नि जलसे ही शान्त होती है, षष्ठीविभक्तिके अन्तवाले अस्त्रके शमनार्थ प्रथमान्त अस्त्रको काममें लाया है, यों योजना करनी चाहिये, पृथक्-पृथक् प्रकारके अस्त्र चलाये गये. इस कारणसे ही अनुवृत्ति, अर्थात् योजना समझनी चाहिये, पाशुपत अस्त्रके निवारण करनेकेलिये अपना नारायणास्त्र काममें लाए, अन्धकारको मिटानेवाला सूर्य ही देखा गया है, वैसे तमको मिटानेवाला सतोगुण ही है. 'च'से अन्य प्रकारके अस्त्र भी बीचमें चलाये गये समझने चाहिये।।१३।।

मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम्।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः।।१४।।

जृम्भणास्त्रसे महादेवजीको मोहित किया तब वे उबासी खाने लगे, उस समय भगवान् खड्ग, गदा और बाणोंसे बाणासुरकी सेनाका संहार करने लगे।।१४।।

महादेवके अस्त्र जब समाप्त हो गये तब भगवानने जृम्भणास्त्रसे महादेव को मोहमें डाल दिया, अर्थात् मोहित(बेहोश) कर दिया, जृम्भण नामके गणका वर्णन तृतीय स्कन्धमें कहा है, जैसा अस्त्र वैसा उसका देवता है. 'तु' शब्द मोहके अभावपक्षको मिटाता है अर्थात् इस जृम्भणास्त्रसे महादेवको मोह हो सकता है, और हुआ है जिसमें कारणकि महादेव पर्वतोंका स्वामी है, इसलिये जब महामोह पर्वतोंमें ही रहता है, तो उनके ईशमें मोह होना तो स्वयं सिद्ध है महादेवको उबासियां आने लगीं यह देवताका प्रभाव दिखाया है, नहीं तो अलौकिक प्रकारसे मोहकी संभावना होती, पश्चात् महादेव मोहसे युद्धसे लौटते, न मौन धारण करते अथवा शयन करते यों युद्धसे विरुद्ध हो जाते, अनन्तर भगवान् बाणकी सेनाका नाश करने लगे, वह भी लौकिक प्रकारसे जैसाकि तलवार, गदा और बाणोंसे काटना, मारना अल्प काटना आदि प्रकारसे नाश किया।।१४।।

इस प्रकार भगवानके युद्धका वर्णनकर पश्चात् दूसरोंके युद्धका वर्णन

'स्कन्द' श्लोकसे करते हैं.

स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः।

असृग् व्यमुञ्चन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद् रणात्।।१५।।

स्वामीकार्तिक, प्रद्युम्नके बाण समूहोंसे पीड़ित होनेसे, उनके चारोंओरसे शरीरसे रक्त बहने लगा तब मयूर पर बैठ रणसे भाग गये।।१५।।

बाण समूहोंसे पीड़ित, रक्त बहाते हुए मूर्च्छित जैसे मयूर द्वारा रणसे भाग गये, (मयूर उनको लेकर भाग गया)।।१५।।

बलभद्रजीने बिना विचारके मार ही डाला यह 'कुम्भाण्ड' श्लोकसे कहते हैं.

कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुशलार्दितौ।

दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः।।१६।।

मूशलसे पीड़ित कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनों गिर गये, नाथोंके मरने पर उनकी सेनाएं चारोंओरसे भागने लगी।।१६।।

मूशलसे पीड़ित वे दोनों एक ही प्रहारसे आगे और बीचके मध्य भागमें दो टुकड़े होते ही पृथ्वी पर गिरे, वहां ही मर गये वे दोनों सेनापति थे, उनके मरनेसे सेना अनाथ होनेके कारण चारोंओर भागने लगी, कितने ही सैनिक भ्रमसे भगवानकी सेनामें चले गये यों उनकी व्याकुलता दिखाई।।१६।।

इस प्रकार उन दोनोंके मरने पर बाण स्वयं आया जिसका वर्णन 'विशीर्यमाणं' श्लोकसे करते हैं.

विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः।

कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम्।।१७।।

अपनी सेनाको तितर-बितर हुई देख, बाणासुर अतिक्रोधित हो, सात्यकिसे न लड़ श्रीकृष्णसे लड़नेकेलिये रथमें बैठकर आया।।१७।।

बाणासुरको क्रोध इसलिये हुआ कि सामान्य प्रकारमें युद्ध करना छोड़, विशेष प्रकारसे करने लगे, इस कारणसे सात्यकिका त्यागकर, कृष्ण पर आक्रमण करने लगा, त्यागका भावार्थ यह है कि बाणने सात्यकिको दिखा दिया कि मैं तुझसे न लडूंगा, यदि लडू तो श्रीकृष्णसे लड़नेमें रुकावट पड़ेगी, अतः अलौकिक प्रकारके दिखानेकेलिये लौकिक प्रकारका त्याग किया।।१७।।

उसका वह प्रकार 'धनूंष्याकृष्य' श्लोकमें कहते है:

धनूंष्याकृष्य युगपद् बाणः पञ्चशतानि वै।
एकैकस्मिन् द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः।।१८।।

रणमें मदोन्मत्त बाणासुरने एक साथ पांचसौ धनुष खेंच, एक-एक धनुषमें दो-दो तीर चढ़ाये।।१८।।

साधनोंके बहुत होते हुए भी प्रयत्न एक किया जिससे कार्य शीघ्र हो जाय, इसलिये उसकी प्रशंसा की जाती है, साथमें ही सब धनुषोंको खींचा. अर्थात् उनकी परीक्षाकर ली कि कार्य करने योग्य है वा नहीं? जब समझा कि इनमें कोई भी त्रुटि नहीं तब बाणासुर एक ही कालमें पांचसौ धनुषोंमें दो-दो बाण डालकर धनुष तैयार किये, तब एक ही समय हजार बाण होते हैं, इस प्रकार एक ही समयमें बहुत बाणोंको फेंकनेका यत्न क्यों किया? जिसका उत्तर देते हैं, कि रणमें उसका मद दुष्ट है, इसलिये मत्त पुरुष सम्बद्ध(उचित) कार्य नहीं करता है, कारणकि मत्त स्वभावसे ही दुष्ट होता है।।१८।।

थोड़ेसे ही निराकरण किया, यह 'तानिचिच्छेद' श्लोकमें कहते है.

तानिचिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद् हरिः।
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत्।।१९।।

हरि भगवानने वे पांचसौ धनुष एक साथ ही काट डाले और सारथी, रथ तथा घोड़ोंको मारकर पश्चात् शंखनाद किया।।१९।।

एक ही बाणसे पांचसौ धनुषोंको कमलिनीके एक सौ पत्रोंके बींधनेके समान छिन्न-भिन्नकर दिये, पश्चात् सारथी, रथ और घोड़ोंको नष्ट किया, बाणका कार्य इतना ही नही था कि उनको क्षतकर दे, किन्तु उनको पूर्णरूपसे मार डालता था अतः मार ही डाले, धनुष टूट जाने और सेनाके नाश होते हुए भी युद्धसे निवृत्त न हुआ, तब उसके अन्तःकरणमें भय पैदा करनेकेलिये शंखकी ध्वनि दानवोंके दर्पका नाश करनेवाली है, जैसाकि कहा है 'यस्यध्वनिर्दानव-दर्पहन्ता' डर जानेके कारण भागनेमें भी असमर्थ होनेसे, लज्जित हुआ जिससे पीठ न दिखाता हुआ वैसे ही स्थित हो गया।।१९।।

तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षयो।२०।।

उसकी माता कोटरा नामवाली पुत्रकी रक्षाकेलिये बालोंको खोलकर एवं नग्न होके श्रीकृष्णके सामने खड़ी हो गई।।२०।।

बाण महादेवका गण होनेसे उसकी कोटरा नामवाली, मातृगणमें प्रसिद्ध पार्वतीकी अंशरूपा धर्मसे माता थी, गण मातृ समान होनेसे धात्रीमातासे तथा धर्ममातासे यह उत्तमा थी, इस कारणसे इसको कहीं पार्वती भी कहा है, क्योंकि पर्वतसे उत्पन्न होनेसे अथवा पर्वतसे उत्पन्न पार्वतीकी अंशरूप होनेसे पार्वती कहा है, जहां मातृगणका नाम कहे है वहां 'कोटरा, रेवती ज्येष्टा' नाम प्रसिद्ध हैं, वह माता पुत्रकी रक्षा करनेकी इच्छासे बालोंको खोलकर नग्न हो कृष्णके सामने खड़ी हो गई, यों करनेका भावार्थ यह है कि इसको देवकी सहायता है यह प्रकट किया, और इसकी धर्ममें निष्ठा है यह भी प्रकाशित किया, यह गणमाता है यों निरूपण करनेसे, जो इसकी साक्षात् उत्पन्न करनेवाली अशना थी वह और जो इसकी पत्नी विन्ध्यावलि यों वे दोनों ही निरस्ते हो गई।।२०।।

उसके यों करनेसे जो हुआ, वह 'ततस्त्रिर्यङ्गमुखी' श्लोकसे कहते हैं.

ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः।
बाणश्च तावद्विरथश्छिन्नधन्वाविशत्पुरम्।।२१।।

भगवानने मुख फिरा लिया जिससे उसको नंगा न देख सके, इतने बाणासुर, विरथ होके और धनुष टूट जानेसे अपने पुरमें चला गया।।२१।।

शास्त्रमें कहा है कि 'नग्नास्त्री प्रकटस्तनी' जिसके स्तन उत्पन्न हो गये हैं और जो नग्न है उस स्त्रीको न देखे. अतः भगवानने मुख फेर लिया, और विशेष यह है कि आप गदाग्रज हैं, इसलिये भी यों करना योग्य है और परस्त्रीका नग्नदर्शन अमंगल करनेवाला है. भगवानके मुख फिरा देने पर बाणने भी पराङ्मुख हो अपने पुरमें प्रवेश किया. पैदल सेना तो भाग गई आप भी विरथ हो गया और धनुष टूट गये, 'च' पदसे बताया है कि सब ही चले गये।।२१।।

इस प्रकार पहला युद्ध कहकर अब द्वितीय राजस युद्धकेलिये भगवान् और महादेवके युद्धको 'विद्रावितें' श्लोकसे प्रस्तावना करते हैं.

विद्रावितें भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात्।
अभ्यपद्यत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश।।२२।।

जब भूतगण भाग गये, तब तीन शिर तथा तीन पांववाला ज्वर, मानो दश दिशाओंको जलाता हुआ श्रीकृष्ण पर आया।।२२।।

जब भगवानने मुख फेर लिया अर्थात् लड़नेका भाव त्याग दिया, तब महादेव मोहसे जगा. महादेवने आत्म विस्मरण होनेसे जब देखा कि जो भूत

साधन और सेवक बने थे, वे भाग गये हैं, तब वैदिकभावसे अपने आध्यात्मिक रूप, रुद्र ज्वरको उत्पन्न किया, 'रुद्रः पशूंश्छमायेत' इस वाक्यमें रुद्रको ज्वर कहा है और ''न तस्य रुद्र पशूनभिमन्यत'' यहां रुद्रको ज्वररूप कहकर ज्वर निवारकत्व कर्म कहा है वैदिकमार्गसे भी भगवानके साथ युद्ध कर्तव्य है इसमें प्रवृत्ति करानेकेलिये भूतगण भाग गया, यों कहा, इस कारणसे ही ज्वरकी उत्पत्ति यहां नहीं कही है, रूपान्तरसे रुद्र ही ज्वर है 'तु' शब्दसे दूसरे ज्वरका निषेध किया गया है, वह तीन मस्तकवाला और तीन पांववाला रुद्रज्वर शरणागतकी रक्षा करनेमें सबसे उत्तम भगवानके पास आया, क्योंकि शरणागत कोटराके कारण ही युद्धसे परावृत्त हुए थे, वह रुद्रजवर अपना सामर्थ्य दिखाने केलिये दश दिशाओंको मानो जलाता हुआ भगवानके पास आया।।२२।।

तब सर्वरूप भी भगवानने उसके निवारक कर्मका त्यागकर दूसरे प्रकारसे, पहले उत्पन्न हुवे शीत और रुद्रज्वर दोनोंको मिलाकर, नारायण ज्वर उत्पन्न किया, जिसका वर्णन 'अथ नारायणो' दो श्लोकोंसे कहते हैं.

अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम्।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ।।२३।।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः।।२४।।

भगवानने उस ज्वरको देख वैष्णव ज्वरको उससे लड़नेकेलिये भेजा, तब माहेश्वर और वैष्णव दोनों परस्पर लड़ने लगे, जब वैष्णव ज्वरने माहेश्वरको दबा लिया तब डरा हुआ माहेश्वर ज्वर दूसरी ठौर अपनी रक्षा होना न देख भगवानकी शरण आया और हाथ जोड़ भगवानकी स्तुति करने लगा।।२३-२४।।

ज्वररूप इस महादेवको देख, वह ज्वर, अष्टमूर्ति महादेवका कलारूप रुद्र है, जिसमें निम्न प्रमाण देते हैं हे अग्निः[१] तुम्हारे घोररूप क्षूधा और तृष्णा, अस्तु क्यानाहूति, अशना और पिपासा, सेदि और अमति हैं, इन श्रुति प्रमाणोंसे वह रुद्ररूप ज्वर अष्टमूर्ति महादेवका कलारूप शास्त्रोंमें कहा है. जो हमारा (माहेश्वर और वैष्णव) द्वेष करते हैं, जिनसे हम द्वेष करते हैं उनके पास जाकर इस श्रुतिके अनुसार रुद्रसे प्रेरित ये आठरूप इकट्ठे हो ज्वररूप धारणकर भगवानके समीप गये, 'पुरुषो ह वै नारायणः' इस श्रुतिके अनुसार नारायणदेव यज्ञरूप पुरुष हैं, इस कारणसे देवतारूप अग्नि और सोमको जैसे वृत्रसे बाहर निकालके प्रकट

किया, वैसे ही रुद्रज्वरसे देवतारूप अग्निको बाहर निकालनेकेलिये अपने वैष्णवज्वरको भेजा इन्द्रने भी आत्मासे 'शीत और रुद्रज्वर' उत्पन्न किये, यह इन्द्र यज्ञरूप आत्मा है, यह आत्मा यज्ञ भगवान् ही है, उसको प्रार्थनासे उत्पन्न किया, अनन्तर दोनों ज्वरोंका(माहेश्वर और वैष्णव) परस्पर युद्ध हुआ, दोनों प्रसिद्ध हैं जैसे विष्णु और शिव दोनों पहले लड़े, वैसे उनके सेवक भी दोनों ज्वर होनेसे युद्ध समानोंमें था, युद्ध भी समान था, किन्तु देवताओंके प्राबल्यसे माहेश्वरज्वर वैष्णवज्वरसे पिड़ित हुआ, माहेश्वर चिल्लाने लगा और रोने लगा, रोने क्यों लगा? तो कहते हैं कि रुद्र प्रकृति होनेसे तामस प्रकृतिवाला ही पीड़ित होनेसे रोता है, न कि दूसरा(सात्विक वा राजस), रोनेसे जब पीड़ा निवृत्त न हुई, वैष्णवज्वरसे डरा हुवा और अपने मूलभूतको प्रथम ही पराजित समझ, शरणार्थी होकर हृषीकेश भगवानके शरण गया, शरण जाकर, अंगीकार करनेकेलिये ही स्तुति करने लगा. तामस ज्वरको एसी बुद्धि कैसे आई? इस पर कहा कि हृषीकेश होनेसे भगवान् इन्द्रियोंके स्वामी हैं जिससे आप प्रेरक हैं अतः आपने ही ऐसी प्रेरणा की है. दूसरे स्थान पर अभय न पाकर पहली बाधाको स्मरणकर, डरा, शरणार्थीपन भी अंगीकारार्थ ही किया है, इससे यह बताया है कि इसका अन्तःकरण भगवानके परायण है, हाथ जोड़नेसे अपनी कायासे नम्रता प्रकट की है।।२३-२४।।

१.यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः, क्षुच्च तृष्णा च, अस्तु क्वानाहुतिश्च अशनाया च पिपासा च सेदिश्चामतिश्च.

उनकी स्तुति चार श्लोकोंसे करते हैं.

स्वरूपबलकार्याणि जानतो मम सर्वथा।
रक्षा त्वयैव कर्तव्येत्येवंरूपा स्तुतिः कृता।।का.१।।

ज्वरने इस प्रकार स्तुति की कि आपके स्वरूप, बल और कार्योंको जानता हूं, अतः मेरी रक्षा सर्वथा आपको ही करनी चाहिये अर्थात् मेरी रक्षा अन्य कोई नहीं कर सकता है।।१।।

उस स्तुतिमें प्रथम इसलोकमें स्वरूपको कहकर नमन करेगा.

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम्।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम्।।२५।।

ज्वरने कहा कि आप अनन्त शक्ति बह्मा आदि देवोंके स्वामी, सबकी आत्मा, शुद्ध, चैतन्यघन जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारण, केवल ज्ञानरूप, ब्रह्मके लिंग और शान्त स्वरूप हैं ऐसे आपको मैं नमन करता हूं।।२५।।

शास्त्रोंसे सिद्ध स्वरूप दूसरे प्रकारका है, यह जो दीख रहा है वह नहीं हैं, इस भ्रमको मिटानेकेलिये 'त्वां' कहा है, जिसका भावार्थ है कि यह जो आपका स्वरूप दीख रहा है यह ही आपका शास्त्र सिद्ध स्वरूप है, यह ज्वर, जब स्वयं शंकरका सर्व संहारक शक्तिरूप है तब अन्यकी स्तुति कैसेकर रहा है? जिसके उत्तरमें कहता है कि जिसकी स्तुति की जाती है उसका माहात्म्य अगाध है, क्योंकि वह अनन्तशक्ति है, यदि कहो कि कोई आपदा पड़ेगी तो काल और ब्रह्मा आदि रक्षामें सहायता करेंगे, फिर क्यों महान् शत्रुकी शरण लेते हो? इसके उत्तरमें कहता है कि 'परेश' यह शत्रु ब्रह्मा आदि सर्वका नियामक है, यदि कहो कि शत्रुकी शरण लेनेसे मरण अच्छा है, यह सर्वकी आत्मा है अतः शत्रुके शरण नहीं क्योंकि सबकी आत्मा होनेसे यह शत्रु नहीं है, अतः इसमें 'वैषम्यनैर्घुण्य' दोष नहीं है. यदि कहो कि प्रकृतिके सम्बन्धसे सर्वात्माका भी अन्यथाभाव अर्थात् शत्रु-मित्रभाव हो जाता है. जिसका उत्तर देता है कि 'केवलम्' यह जीवकी भांति प्रकृतिसे सम्बद्ध नहीं है. यदि कहो कि प्रकट होना काममय होनेसे ही होता है फिर केवलपन कैसे कहते हो? जिसके उत्तरमें कहता है 'ज्ञप्तिमात्रम्' यह ज्ञानरूप होते हुए ही प्रकट होते हैं, इस प्रकार कहकर क्या? औडुलोमि वा सांख्यकी भांति चैतन्य मात्र मानते हो? वा दोनोंमें जीवत्व और ब्रह्मत्वकृत लक्षण है यों मानते हो, सर्व दैत्यांश और उनके पक्षपातियोंको चिन्मात्र पक्ष ही इच्छित है, उनमें किन्हीका मत है कि जगत् कर्तृत्व प्रकृतिका है न कि भगवानका है. इसका उत्तर देता है कि मैं उस पक्षको नहीं मानता हूं 'विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतु' मेरा मत तो शास्त्रानुसार यह है कि विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका हेतु भगवान् ही है न कि प्रकृति और वह आप ही हैं, आप केवल अविकृत होते हुए ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं, जैसे चिन्तामणि कल्पवृक्ष आदिमें देखा है, चिन्मात्रका हेतुत्व भी माना जाता है क्योंकि श्रुति सिद्ध है, अतएव इस विषयमें अलौकिक कर्तापनमें प्रमाण कहते हैं 'यत् तत्' जो लोकमें प्रसिद्ध हैं वह वेदमें भी प्रसिद्ध है इसलिये आप लोक-वेद दोनोंमें प्रसिद्ध हैं. कृष्णको लेकर लोक-वेद प्रसिद्धि कहीं देखनेमें नहीं आई हैं, ऐसा शब्द सुननेमें नहीं आया, यदि यों कहो तो

इसका उत्तर है कि, 'ब्रह्मलिंगम्' ब्रह्मके जो चिन्ह हैं वे सब आपमें है जैसे कि जगत्कर्तृत्व, उसका निर्वाहकत्व, सेतुत्व, और आधारत्व आदि चिन्ह आपमें ही हैं. जिसमें भी प्रमाण कहता है, 'प्रशान्तम्' आपमें शान्ति प्रत्यक्ष है, यदि शान्ति न होवे तो स्वतन्त्र और समर्थ आप हमारे जैसोंकी अपेक्षा किसलिये करो, प्रशान्त होनेसे आपमें ब्रह्मके धर्म दीखते हैं. धर्मोंसे ही ब्रह्मत्वका ज्ञान होता है, इससे ही लोक और वेदका समन्वय होता है. इससे जगत्कर्त्ता आदि गुणवान् आप हैं; गुण उत्तरार्धमें कहे हैं और पूर्वार्धमें दोषोंका अभाव कहा है, इस प्रकार आपका निर्दोषपूर्णगुण विग्रहत्व निरूपण किया है।।२५।।

इससे यह सिद्ध किया है कि सर्व प्रकारकी सामर्थ्य सर्वत्र भगवानकी ही है, न किसी दूसरे की. यों सिद्ध होने पर भी प्रतीतिसे कालादिका बल सिद्ध देखकर उसके निराकरण करनेसे ही निराकरण होता है, अतः 'कालो दैवं' श्लोकसे इस प्रतीतिका निराकरण करते हैं.

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्माविकारः।
तत्संघातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये।।२६।।

काल, देव, कर्म, जीव, स्वभाव, द्रव्य, देह, प्राण, अहंकार, विकार, उनका समूह, बीज और कार्यका प्रवाह यह सर्व आपकी माया है, यह माया जिसमें नहीं है, उसकी शरण मैंने ली है।।२६।।

वास्तविक तो कार्य और कारणरूप आप ही हैं उन(कार्य और कारण)में पृथक् प्रतीतिसे जो सामर्थ्यकी कल्पना की जाती है, वह भी, आपकी यह माया ही है, नहीं तो सर्व प्रमाणसे सिद्धमें, अन्यथा कल्पना कैसे हो सकती है. 'ज्योतिः' शास्त्रसे एवं अन्वय-व्यतिरेकसे काल, सर्वका कारण है. यह निश्चय किया जाता है, उसके अवान्तरभेद ग्रह, कालके अवयव उसके इन्द्रियरूप 'दैव' कहाता है, धर्मशास्त्रमें वह सर्व, कर्मके आधीन है. सामान्य तथा विशेष कर्मोंसे सर्व कार्योंकी उत्पत्ति कहते हैं. सांख्य सिद्धान्तवाले सर्वत्र बीजके स्वभावको ही कारण कहते हैं दूसरे स्वभाववादी भी यों मानते हैं, जड़ कार्यवादियोंका इस प्रकार सिद्धान्त है, जीव कार्यवादियोंके मतमें जीव ही स्वभाव है, इसलिये सब ही जीवरूप हैं, यद्यपि इसका ब्रह्मवादमें निराकरण किया है, तो भी पूर्वपक्षमें ही निराकरण किया गया है. इसलिये सर्वजीवात्मक है. यह पक्ष भी उचित ही है. अथवा काल आदि पांच सामान्यरूपसे कारण होते हैं, जैसेकि 'काल' गुणोंमें

क्षोभ उत्पन्न करता है 'दैव' प्राणीका अदृष्ट है, कर्म जन्मका निमित्त सामान्य भगवद्रूप है, जीव भोक्ता हैं 'स्वभाव' परिणामका कारण है, 'जीवः स्वभावः' यों पाठमें कार्य कहते हैं, 'द्रव्य' तत्त्व है, उनका कार्य देह 'क्षेत्र' है, उसमें 'प्राण' सबका हेतु है उसका भी प्रभु 'आत्मा' है 'अहंकार' पुरका अध्यक्ष विकार है उसका संघात देव, तिर्यङ् और मनुष्य आदि आद्यरूप हैं, पश्चात् बीजभावको प्राप्त हुवे उनका ही उत्पत्ति प्रवाह हैं, अर्थात् अहंकारकी उत्पत्ति ही कार्य है, बीजांकुरन्यायकी तरह उसका प्रवाह अनादि सिद्ध है, यह सर्व इसलिये अखण्ड होनेसे आपसे उनका भिन्नतासे ज्ञान होता है, ऐसी भिन्न ज्ञानवाली बुद्धि होती है, वह भी आपकी ही यह माया है. उसकी व्याप्ति कामकी तरह जीवोंमें ही होती है, अतः मायाके वशसे आप ही वैसे होते हैं इसका निराकरण करनेकेलिये कहते हैं 'तन्निषेधं प्रपद्ये' इस मायाका जिस आपमें निषेध अर्थात् अभाव है, वैसे आपके मैं शरण आया हूं।।२६।।

इस प्रकार भगवानके स्वरूप तथा सामर्थ्यका निरूपणकर अब अवतारमें किये हुए विशेष कार्योंका 'नानाभावैः' श्लोकसे वर्णन करते हैं.

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैः देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान् जन्मैतत् ते भारहाराय भूमेः।।२७।।

लीलासे ग्रहण किए हुए अनेक अवतारोंसे आप देवोंकी, साधुओंकी और लोकमें धर्मकी मर्यादाकी रक्षा करते हैं और वेद आदि शास्त्रोंसे विरुद्ध मार्ग पर जानेवालोंको तथा हिंसकोंको नाश करते हैं, आपका यह प्राकट्य भूमिके भारको उतारनेकेलिए हुआ है।।२७।।

नटकी भांति आप मत्स्य आदि अवतार ग्रहण करते हैं, वैसे तो आप आनन्दरूप हैं. किन्तु भावमात्रसे वैसा रूप धारण करते हैं, यहां 'भाव' पद अवतार वाचक समझना चाहिये. यह अवतार ग्रहण करनेका कार्य नटकी तरह क्लेशसे नहीं किन्तु इच्छा करते ही वह ग्रहण कर लेते हैं. इन अवतारोंके ग्रहण करनेका प्रयोजन बताते है, अवतार लेकर आप देव, साधु और लोकधर्मकी रक्षा करते है. ये तीन प्रकारके हैं, साधु पृथ्वीके ऊपर रहनेवाले धर्मकी मर्यादाएं सेतु हैं, वे पृथ्वीके नीचे ही निरूपण किये हैं. खात ही वेदि है, यों कहनेसे यह बताया है कि तीनों लोकोंमें स्थित भक्तोंकी रक्षाकेलिये भगवदवतार है. इस प्रकार गुणोंका वर्णनकर दोषाभावर्थत्व कहते हैं कि वेद विरुद्ध मार्ग पर चलनेवालोंका

एवं हिंसक स्वाभाववालोंका नाश करते हैं, यह आपका प्राकट्य, वैसे दोनों कामोंको करते हुये भी इससे विशेष कार्य भी करते हैं, वह कार्य ये हैं, पृथ्वीका भार उतारना दूसरे अवतार भूमिके आधार पर ही जीवन बितानेवालोंके दोषोंके अभावको तथा गुणोंको सम्पादन करते हैं, यह अवतार तो भूमिका ही भार दूर करता है, यह तो उपलक्षण मात्र है और परमानन्दको भी सम्पादन करते हैं।।२७।।

इस प्रकार स्तुतिकर अपने दुःखको बताता है और उसकी निवृत्तिकेलिये 'तप्तोऽहं' श्लोकसे प्रार्थना करता है.

तप्तोऽहं तेजसा दुःसहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण।
तावत् तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः।।२८।।

आपके इस दुःसह तेजसे मैं तप्त हो गया हूं, वह बाहर शीत और भीतर बहुत उग्र तेजवाला ज्वर है, इसका ताप तब तक देहधारियोंको जलाता है, जब तक वे आशाओंका त्यागकर आपके चरणोंकी शरण नहीं आए हैं।।२८।।

आपके इस दुःसह क्रूर ज्वररूप तेजसे मैं अत्यन्त तप्त हूं, अग्निके तापको भी इस तापने पराजित कर दिया है, मैं इसका अनुभवकर रहा हूं, इसलिए यह कहना अयोग्य नहीं है, वैष्णवतेज(ज्वर) तापको उत्पन्न नहीं करता है. इसके उत्तरमें कहता है कि यह वैष्णव ज्वर बाहर शान्त है और भीतर उग्र है, यदि भीतर उग्र होता तो दैत्योंका निवारण न कर सके, जैसा भगवान् नेत्रके नेत्र हैं, श्रोत्र (कान)के श्रोत्र हैं, वैसे ही यह ज्वरका भी ज्वर है तथा ज्वरकी प्रवृत्ति करानेवाला सहायक एवं उसको रोकनेवाला भी है, इसलिए तापकी ही प्रार्थना की है, न कि ज्वरके निवारणकेलिए, क्योंकि ताप असह्य एवं क्रूरसे भी क्रूर है, ज्वरकी निवृत्ति होने पर ताप स्वतः मिट जाएगा, इससे ज्वर मिटनेकेलिए ही प्रार्थना करनी चाहिए, यदि कहो कि कोई भी शत्रुके शस्त्रसे पीड़ित, शत्रुकी प्रार्थना नहीं करता है तो इसका उत्तर यह है कि देहाभिमानियोंको तब तक ताप है, जब तक आपके चरणकी शरण ग्रहणकर सेवा नहीं की है, यों कहनेसे यह बताया कि बिना इस उपायके तापकी निवृत्ति नहीं होती है. ज्ञानसे जो ताप निवृत्ति होती है, उसमें भी चरणाश्रय ही हेतु है, अतः निरर्थक ज्ञानका आश्रय लेना व्यर्थ है, यह कहनेसे ज्ञानसे भक्तिका उत्कर्ष बताया है, तो उनकी सेवा क्यों नहीं करते? जिसका उत्तर है कि भगवत्सेवामें काम रुकावट नहीं है, किन्तु भगवानकी शक्ति 'आशा' रुकावट है, असन्तोष होनसे आशाओंकी पूर्ति नहीं होती है, इसलिए आशा

पाशमें बंधे ही रहते हैं. जब तक यह बन्धन है, यों कहकर यह बताया है कि यह बन्धन अन्तवाला है, आशाके बन्धनमें जबतक फैला हुआ है, तबतक आशा सत्य दीखती है, वह तब निवृत्त होती है, जब पूर्ण होती है. कामनाको निवृत्ति होने पर निवृत्त हो जाती है, विषयमें दोष दीखनसे भी निवृत्त हो जाती है, उसकी निवृत्तिके अनेक प्रकार हैं, ऐसी सम्भावना होनेसे जबतक यह अवधि कही है, काम अग्निरूप है, इससे ताप तबतक ही है, जबतक काम है, यों कहना उचित ही है।।२८।।

इस प्रकार गुह्य करनेवाले भगवानकी प्रार्थना करने पर मृत्युका यह जो बड़ाभाई है, उसको नियम बन्धनसे स्थापित करनेकेलिए 'त्रिशिरस्ते' श्लोकसे भगवान् वर्णन करते हैं.

श्रीभगवानुवाच

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहं व्येतु ते मे ज्वराद् भयम्।
यो नौ स्मरेत संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम्।।२९।।

भगवानने कहा हे त्रिशिरा! मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूं, इसलिए मेरे ज्वरसे अब कोई भय न होगा और जो अपना यह संवाद स्मरण करेगा, उसको तुझसे भय न होगा।।२९।।

जिस ज्वरके धातुओंकी विषमतासे वात, पित्त और कफ ये तीन सिर है, न कि सात्त्विक आदि तीन प्रकारके कर्म अथवा काल, कर्म और स्वभाव, ये तीन सिर हैं, अतः सम्बोधनसे मैं प्रसन्न हूं यों कहकर उसका अक्षयत्व निरूपण किया है, तेरे वे सब कार्य सिद्ध होंगे, जिनकेलिए प्रार्थना की है, वे बताते हैं, मेरे ज्वरमें तुझे कोई भय न होगा, परन्तु जैसे मेरे ज्वरसे तुझे भय नहीं, वैसे ही तुझसे भी मेरे ज्वरको भय नहीं होगा, इस आशयसे कहते हैं कि यह दोनोंका स्तोत्र प्रसादरूप संवाद जो स्मरण करेगा उसको तुझसे भय न होगा यह भगवानकी आज्ञा है।।२९।।

इस प्रकार कृतार्थ हो, भगवानकी आज्ञाको प्राप्तकर, कपट वा बहानेसे किसीको भी भय न दिखाना यों जताया हुआ अपने ही स्थान पर गया, मृत्युके समीप गया.

इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः।
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद् योत्स्यन् जनार्दनम्।।३०।।

भगवानने इस प्रकार कहा वह सुन अच्युत परमात्माको प्रणाम कर माहेश्वर ज्वर रवाना हो गया और बाण तो रथमें चढ़कर जनार्दनसे युद्ध करने केलिए आया।।३०।।

भगवानने इस प्रकार कहा, भगवान् शब्द आप अच्युत है, इसलिए आपके वचन भी अच्युत है. वे सुननेके पश्चात् माहेश्वर ज्वर गया, उसके जानेके अनन्तर, महादेवसे प्राप्त वरवाला बाण आगेसे भी विशेष उत्साहसे भगवानसे लड़नेकेलिये आया, क्योंकि बाणने समझा कि जनार्दन मेरे समान है।।३०।।

पश्चात् बाण हरेक भुजामें अनेक शस्त्र लेकर लड़ने लगा, यह 'ततो बाहुसहस्रेण' श्लोकमें कहते हैं.

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः।
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप।।३१।।

हे राजन्! अनन्तर अनेक आयुधोंको लेकर वह बाणासुर अत्यन्त क्रोधित हो हजार भुजाओंसे भगवान् पर बाणोंको फेंकने लगा।।३१।।

अनेक आयुधोंको धारण करता है, इसके पश्चात् चक्रधारी भगवान् पर अनेक शस्त्र फेंकने लगा यदि कहो कि भगवानने तो पहले इसकी रक्षा की है, यह अब भगवान् पर कैसे शस्त्र फेंकता है. इसके उत्तरमें कहा है कि 'परमक्रुद्धः' बहुत क्रोध आनेसे फेंकने लगा, वास्तवमें तो उसको क्रोध था ही नहीं इसलिये कहा है 'परमक्रुद्धो' परम-अक्रुद्धो, किन्तु क्रोधित नहीं था, अन्यथा परमत्व क्रोधका विशेषण हो नहीं सकता अथवा समासमें असामर्थ्य है 'चक्रायुधं' इस नाम देनेका भावार्थ यह है कि इस चक्रसे सबका निराकरण प्रकट किया हैं, एक तरफ सहस्र आयुध और एक तरफ सुदर्शन चक्र है।।३१।।

प्राप्त समताका परिहार करता है, जिसका वर्णन 'तस्यास्यतः' श्लोकमें करते हैं.

तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृत् चक्रेण क्षुरनेमिना।
चिच्छेद भगवान्बाहून् शाखा इव वनस्पतेः।।३२।।

बार-बार अस्त्र चलानेवाले बाणासुरकी भुजाओंको भगवानने तीखी धारवाले अपने चक्रसे वृक्षकी शाखाओंकी तरह तोड़ डाला।।३२।।

अस्त्रोंको फेंकते हुए उसकी हजार भुजाओंको तीखीधारवाले चक्रसे तोड़ डाला, इस प्रकार तोड़नेका कारण लौकिक प्रकार दिखाना है, बीचमें आये

हुए सिरको नहीं काटा, जिसका दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पेड़की डालियां ही काटी जाती है, वैसे यहां भुजाओंको काटा, इसलिये महान होनेसे सिर नहीं काटा, किन्तु पेड़के प्रसारको रोकनेकेलिये डालियां काटी जाती हैं वैसे इसकी भुजाओंके कटनेसे इसकी वृद्धि भी रुक गई, भुजाएं ही वर प्राप्त थीं।।३२।।

पश्चात् अपने वरसे दी हुई भुजाओंके छेदन होनेसे सर्व उपायोंसे परिभ्रष्ट महादेव, भगवानकी स्तुति करने लगे, वह 'बाहुषु' श्लोकमें कहते हैं.

बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान्भवः।
भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत।।३३।।

बाणासुरकी भुजाओंके टूटने पर भक्तों पर दया करनेवाले भगवान् महादेवजी निकट जाकर चक्रायुध श्रीकृष्णको कहने लगे।।३३।।

युद्धमें केवल जय हो जानेसे रुद्र आदिको भगवानके स्वरूपका पूर्णज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जय व पराजयका कोई नियम नहीं है उनके दिये हुए वरके असफल हो जाने पर भी वैसा ही है, अर्थात् इससे भी स्वरूपका पूर्णज्ञान तबतक सबको नहीं होता है, जबतक यह स्वयं अपनी सामर्थ्यका अभाव देख भगवानको ही प्रार्थना करे, तब अन्य सेवक यों समझेंगे कि वास्तविक स्वामी भगवान् ही है, जिससे निरोध फलीभूत होगा, अन्य प्रकारसे नहीं, इसलिये महादेव प्रार्थनारूप स्तुति करते हैं, महादेवजीको इस प्रकारके उपायका ज्ञान होनेका कारण यह है कि आप षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न है अतः आपको भगवान् विशेषण दिया है, आप लब्ध प्रतिष्ठ होते हुए भी दूसरोंके हितार्थ हीनताका अवलम्बन करते हैं, क्योंकि आप भक्तों पर दया करनेवाले हैं, अतः प्रभुके निकट आकर प्रार्थना करने लगे, यदि प्रभुकी यों करनेमें सम्मति न हो, तो मुझे मार डाले किन्तु मेरे भक्तको न मारे, इसलिये निकट आये हैं, इससे यह जताया कि पहले लौकिक और वैदिक प्रकारसे भक्त हितकेलिये ही सहायता की, उनसे कार्य नहीं होने पर, स्तुतिसे भी सहायता करते हैं, भुजाओंके छिन्न-भिन्न होनेके अनन्तर भी चक्रको धारणकर खड़े थे. इससे शिरका छेदन भी कर दे ऐसी अवस्था देख महादेव स्तुति करने लगे।।३३।।

'त्वं हि ब्रह्म'से बारह श्लोकोंमें महादेवने जो स्तुति की उसका वर्णन करते हैं. बारह श्लोकोंमें स्तुति करनेका कारण है कि इससे संवत्सरात्मक कालका अतिक्रमण होगा.

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।

य पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्।।३४।।

महादेवजी कहते हैं कि वेदमें गुप्तरूपसे स्थित आप परम प्रकाश स्वरूप परब्रह्म हैं, ऐसे आपके आकाशके समान निरंजनरूपको शुद्ध अन्तःकरणवाली वांगमय आत्माएं देखती हैं।।३४।।

यादृशो भगवान् कृष्णः स योगेनैव गम्यते।

दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादी हि दृश्यते।।का.१।।

भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकारके हैं, वह योगसे ही जान सकते हैं, जो प्रतीत स्वरूप हो रहा है वह तो शास्त्र विरुद्ध दीखता है अर्थात् मनुष्यत्वसे जो भान होता है, वह भान शास्त्र विरुद्ध है।।१।।

इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथाङ्गता।

अङ्गान्यपि हरेर्लोके भिन्नानीति विदुर्यतः।।का.२।।

यह जतानेकेलिए भूमि आदिको अंग कहा गया है, लोकमें हरिके अंग भी भिन्न-भिन्न हैं, यों जानते हैं।।२।।

अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति स्तुतिः।

निर्दोषपूर्णगुणकोऽप्यस्मदादिभिरीयते।।का.३।।

भगवान् हमारेलिए[१] ही पधारे हैं, इसलिए स्तुति है, हमसे लेकर सब भी अधिकारानुसार भगवानको निर्दोष और पूर्णगुणोंवाला कहते हैं।।३।।

१.महादेव वेदरूप हैं और वैदिकधर्म पालनकेलिए 'च'से खल निग्रहकेलिए.

यथाधिकारं तत्रापि हेतुर्हि भगवान्परः।

अन्तरायस्त्वदज्ञाने यदासीत्तस्य च स्वयम्।।का.४।।

भगवान् तो जैसा श्लोकोंमें वर्णित है वैसे हैं; किन्तु हम अपने अधिकार के अनुसार वर्णन करते हैं, जिसका कारण अज्ञान है, उस अज्ञानके कारण वर्णन करनेमें रुकावट होती थी, जिसको मिटाकर ज्ञान देकर प्रबुद्धिके प्रकाशक साक्षात् उदार भगवान् ही है, अतः वे अपना हित करनेवाले हैं।।४।।

प्रकाशको महान् साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत्।

कृष्णेच्छयैव सर्वेषामेव बुद्धिविपर्ययः।।का.५।।

अन्यथा धनपुत्रादौ कथं मुग्धा विवेकिनः।।

कृष्णकी इच्छासे ही सबकी बुद्धि विपरीत हो गई है, नहीं तो विवेक-वाले, धन, पुत्र आदिमें मोहित कैसे होवें?।।५।।

तस्मात् पूर्वापराधानां क्षमा नित्या हरौ परे।।का.६।।
तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजीवास्तु ते मताः।
अनेन भजनं प्रोक्तं बाणोऽपि भजते यतः।।का.७।।

इसीसे पहले किए हुए अपराधोंकी क्षमा भगवानमें नित्य है, अतः वे अपराधोंको क्षमा करते हैं, तो भी जो भगवानकी सेवा नहीं करते हैं, उनका जीवन व्यर्थ समझना चाहिए, इससे कहा है कि भजन करना चाहिए, क्योंकि बाण भी भजन करता है।।६-७।।

प्राकृताभजने हेतुर्दुरदृष्टं निरूप्यते।
वयं तु लोकरीत्यैव भवदुत्कर्षहेतवे।।का.८।।
युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ता एव न संशयः।
प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिरुच्यते।।का.९।।
तादृशस्य हितं यस्मात् कर्तव्यमिति सार्थना।।१०।।

बुरे अदृष्टके कारण जीव भजन नहीं करता है, हम तो लोकरीतिसे भगवानका उत्कर्ष प्रकट करनेकेलिए युद्ध करने आए हैं, लेकिन हम भगवानके भक्त हैं, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है. प्रकट प्रकारसे शरणागति कही गई है, जिस शरणागतिसे प्रपन्नका हित होता है, यों इसकी उपयोगिता है।।८-१०।।

पहले कहा कि लोकदृष्टिसे जो देखा जाता है, उससे भगवत्स्वरूपका ज्ञान एवं दर्शन योग द्वारा ही होता है न कि लोकदृष्टिसे, इसको स्पष्ट करते हुए शिवजी कहते हैं कि निश्चयसे आप ब्रह्म है यह अर्थ योग्य है, यों न होवे तो लौकिक और वैदिक प्रकार जो युद्धमें देखे गये वे व्यर्थ न होते. अतः प्रमाणसे प्रमेय बलवान है यह 'हि' शब्दसे कहा है, यदि कहो कि प्रमाणसे प्रमेय कैसे बलिष्ठ है? जिसके उत्तरमें कहते है कि 'परं ज्योतिः' आप परम ज्योति स्वरूप हैं, ब्राह्मण ग्रन्थमें सूर्य आदिका निराकरण करते हुए वाणीका भी निराकरणकर यह सिद्ध किया है कि 'परं ज्योति' भगवान् ही है. यदि यों है, तो साक्षात् पुराणपुरुष परमात्मा देवकीजीमेंसे जो प्रकट होगा वह ही वेदार्थ है यों वेदमें क्यों नहीं सुना जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'गूढ़ं ब्रह्मणि वाङ्मये' वेदरूप ब्रह्म, उसका ही प्रतिपादन करता है किन्तु गुप्तरूपसे, इसलिये अर्थात् गुप्त होनेसे

भगवान् स्वयं श्रीमुखसे गीतामें आज्ञा करते हैं कि 'वेदैश्च सर्वेरहमेववेद्यः' 'सर्ववेदोंसे मैं ही जाना जाता हूं' अर्थात् वेद मेरा ही प्रतिपादन करते हैं, तब उसमें किस प्रकार निश्चयपूर्वक प्रवृत्ति होवे ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'यं पश्यन्ति' वे योगी प्रथम वह गुप्त है, ऐसा समझ उस गुप्त सूक्ष्मके दर्शनकेलिये निर्मल शुद्ध अन्तःकरणवाले होते हैं, पश्चात् पांचभौतिक घट-पट आदि पदार्थोंमें आकाश की भांति गुप्त भी शून्यकी तरह भासित होते हुए भी सर्वत्र उसको ही योग द्वारा देखते हैं, यों तो संघातमें प्रविष्ट जीव स्वरूपको देखते होंगे. इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल शुद्ध संघातमें अप्रविष्ट स्वरूपको देखते हैं।।३४।।

इस प्रकार केवल भगवत्स्वरूपका वर्णनकर अब उसके विश्वरूपको कहते हुए सिद्ध करते हैं कि प्रमाणसे जो प्रकार प्रतिपादित किया गया है उससे अन्यथा ज्ञान प्रत्यक्षसे प्रमाण विरोधी नहीं हैं यह 'नाभिर्नभोऽग्नि' इन दो श्लोकोंसे कहते हैं.

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बुरेतो द्यौः शिर्षमाशाश्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः।।३५।।
रोमाणि वृक्षौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरञ्च्यो धिषणा विसर्गः।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान्पुरुषो लोककल्पः।।३६।।

भगवानके विश्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'प्रकाश' जिसकी नाभि है, 'अग्नि' मुख है, 'जल' वीर्य हैं, 'स्वर्ग' मस्तक है, 'दिशाएं' कान हैं. 'पृथ्वी' चरण है, 'चन्द्रमा' मन है, 'सूर्य' नेत्र हैं, 'शिव' अहंकार है, 'समुद्र' उदर है, 'इन्द्र' भुजा है, 'औषधियां' रोम हैं, 'बादल' केश है, 'ब्रह्मा' बुद्धि है, 'प्रजापति' शिश्न है, 'धर्म' हृदय है, जगद्रूपसे स्थित यह विराट् स्वरूप भी आप ही है।।३५-३६।।

दृष्टि पहले मध्यभागमें जाती है, वह मध्यभाग आकाश है, अतः वह आकाश भगवानकी नाभि है, पश्चात् दृष्टि रूपवाली होती है, 'रूपमग्नौ प्रतिष्ठितम्' इस वाक्यानुसार रूप अग्निमें स्थित है, इसलिये 'अग्निर्मुखम्' अग्नि मुख है यों कहा गया है, पश्चात् रूप प्रसंगमें स्त्री मुख्य है, इसलिये विषयके निरूपणार्थ 'जल'का निरूपण है, अथवा वाणीका एक आश्रय जिह्वा है जिसका आधार जल है इसलिये जलका निरूपण है, सृष्टिके क्रमसे त्रिवृत् करनेमें अग्निके बाद जल कहा है, इसलिये जल भगवानका रेत है, जैसेकि कहा है 'विश्वस्य

भगवान् पिता' इसलिये जल ही सृष्टिका बीज है क्योंकि भगवानका वीर्य है, पश्चात् ऊपर, चारोंतरफ और नीचे, इस प्रकार भूमिका तीन प्रकारसे वर्णन करते हैं, स्वर्ग सिर है, चारोंतरफकी दिशाएं कान है और पृथ्वी चरण है, जातिकी अपेक्षासे एकवचन कहा है, माहात्म्य जतानेकेलिये अथवा इन्द्रियोंका प्रकरण है, इसलिये चन्द्र आदि भगवानके कौनसे स्वरूप है जिनका निरूपण करते हैं, यह चन्द्रमा भगवानका 'मन' है, सूर्य 'नेत्र' है, अहंकार, आत्मा अर्थात् हृदय है. समुद्र 'जठर' है, इन्द्र 'भुजाएं' हैं. वृक्ष और औषधियां 'रोम' हैं, वृक्ष और औषधियां ये दो रोम हैं, यों क्यों कहा? जिसके उत्तरमें कहते हैं, रोमोंमें स्थूल और सूक्ष्म दो भेद होते हैं, दृष्टान्तमें वृक्ष बड़ स्थूल और औषधियां सूक्ष्म दिखाई है. बादल भगवानके केश हैं, जो कोई सर्वात्मकपनसे कहा जाता है, उसका इसी प्रकार निरूपण होता है, धर्मकी जड़ वेद है, वह वेदात्मक धर्म शिवमें निरूपित है, अतः वह प्रमाणिक वैदिकधर्म शिवजीने वर्णन किया है, शेष प्रमेय स्वरूपके संशयका निवारण स्वयं भगवानने अपना सर्वात्मकत्व अक्रूरको दिखाकर किया है, अनन्तर अन्यथा बुद्धि न होवे इसलिये यहां प्रमाणरूप वेदरूप शंकरने निरूपण किया है, वक्तव्य और प्रयोजनमें भेद है इसलिये पुनरुक्ति नहीं है, ब्रह्मा भगवानकी बुद्धि है, विशेष रूपसृष्टि जिस चतुर्मुख प्रजापतिसे हुई है, अतः वह भगवानकी गुह्य इन्द्रिय है, जिसका हृदय धर्म है, इसी भांति भगवानका उत्कर्ष कहकर, सर्वत्र सम्बन्ध है इसलिये अन्तमें सम्बन्धिका निरूपण करते हैं, आदि और मध्यमें उपासनाके व्यावृत्तिकेलिये और आधिदैविकत्व आदि भेद नहीं है इसलिये कहते है कि ऐसा पुरुष एक ही नारायण है, वह आप ही हैं।।३५-३६।।

इस विश्वरूपका वर्णनकर अब ऐसे आपके अवतार लेनेका प्रयोजन 'तवावतारोऽयं' इस श्लोकसे वर्णन करते हैं.

तवावतारोऽयम् अकुण्ठधामन् धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त।।३७।।

हे अच्युत स्वरूप! आपका यह अवतार धर्मकी रक्षा और खलोंके निग्रह दोनोंकेलिए हैं और हम सब आपसे अधिकार प्राप्तकर सात लोकोंका पालन करते हैं।।३७।।

आपका धाम अकुण्ठ अर्थात् वैकुण्ठ है इसलिये आप अच्युत स्वरूपसे ही पधारे हैं, आपका तेज कभी भी कुण्ठित वा च्युत नहीं होता है यह भाव

'अकुण्ठ धामन्' सम्बोधनसे प्रकट किया है, ऐसे आपका यह अवतार धर्मकी रक्षाकेलिये और खलोंके निग्रह इन दोनों कार्योंकेलिये हुवा हैं जहां विरोध है वहां दोनोंका समर्थन विचारणीय है यों निरूपण किया जाता है, वेदरूप जो मैं हूं, उसमें दी हुई भुजाएं है, अतः वे धर्मरूप हैं, और जिसको दी है वह खल है, यहां दोनोंका समाधान करना चाहिये, आपने प्रमाणरूप होकर भी पक्षपातसे जो यह कार्य किया है, इसलिये आप प्रमाण हो गये है, इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'वयं च' और हम सब आपसे सर्व विषयमें अधिकार प्राप्त एवं भावनासे प्रेरित अथवा संस्कृत हैं, अतः उस अधिकारानुसार अथवा भावनासे प्रेरित अथवा संस्कारानुसार सप्तलोंकोका पालन करते हैं. 'जगतो भवाय' इस पाठके अनुसार जगतके उत्कर्षकेलिये यह खल मारनेके योग्य है, यों सिद्ध होता है, अथवा जिस गुणसे जगतका उत्कर्ष होता हो उस गुणको प्रकट करना चाहिये अर्थात् जिस गुणसे दैत्यांशका निराकरण हो उसको प्रकटकर जगतका उत्कर्ष करना उचित है, हम तत्त्वोंके अधिष्ठाता देव है, अथवा ब्रह्माण्डके देव है. सर्वत्र ही हम आपके भावसे ही भावित हैं, तब इसमें ही है, जिसमें कौनसा सन्देह होना चाहिये, यों कहकर यह सिद्ध किया है कि शंकर केवल तामस भाववाले नहीं है, नीचेके सातलोकोंमें उनका प्रभाव तो सिद्ध है ही, अब यों कहनेसे ऊपरवाले सातलोक भी ग्रहण किये है, अर्थात् ऊपरके सातलोकोंमें भी उनका प्रभाव है।।३७।।

यों है, तो भी आगे, यह मेरा अपकार करेगा इसलिये यह मारनेके योग्य है. इसके पास प्रभाव अर्थात् सत्ता एवं अधिकार रहे ऐसा यह योग्य नहीं है, इस पर कहते हैं 'त्वमेक आद्य'.

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयः तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीश्वरः।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धयै।।३८।।

आप एक अद्वितीय आद्य पुरुष हैं, तुर्यावस्थामें प्राप्त भी आप हैं, अपनेमें ही दृष्टिवाले हैं, कारणरूप एव अकारणरूप ईश्वर भी आप हैं, तो भी अपने गुणोंकी प्रसिद्धिकेलिए अपनी मायासे विकारवाले प्रतीत होते हैं।।३८।।

यद्यपि आप सर्वत्र एक ही हैं, तो भी जगतमें घट-पट आदि जितने रूप प्रसिद्ध हैं, उनके कारणका विचार करने पर जाना जाता है कि भगवान् ही अपने एक-एक धर्मको मुख्यरूपसे ग्रहणकर उस प्रकारके हुवे हैं, यों मानना चाहिये यों

होने पर बाण जिस गुणसे सहस्र भुजावाला होता है, वह ही गुण कारणभूत अंगीकार करना चाहिये, इसलिये वैसा ही मानना चाहिये, जो कि हमको सर्वत्र भेदकी प्रतीति होती है तो भी सर्व पदार्थ मात्र आप एक ही है, शर्कराको निम्ब(कड़वी) समझ खाई जाये तो भी वह तो मधुर ही होगी, कड़वी नहीं लगेगी, उसका एकत्व सिद्ध करनेकेलिये कहते हैं, 'आद्यः' आप सबकी आदि अर्थात् बीज हैं, जैसे एक ही व्रीहि अंकुर आदि भावसे सहस्र चावल हो जाते है वैसे ही एक भगवान् ही आदि होनेसे कारण है, संघातकी उत्पत्तिकेलिये चावलकी तरह. भगवान् तो निराकार हैं, चावल साकार है वह तो बीज कारण हो सकता है, निराकार कैसे कारण होगा? इस शंकाको मिटानेकेलिये कारणात्मक बीज, जो भगवान् है उनका स्वरूप बताते हैं, 'पुरुष' पुरुषरूप होनेसे बीज है, पुरुषकी कारणतामें स्त्रीकी अपेक्षा होती है इस शंकाके मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'अद्वितीयः' स्त्री आदि अन्य कोई नहीं, आप एक ही अकेले हैं, अतः कार्य और कारणमें विलक्षणत्व और कार्यमें विचित्रता, चिन्तामणिकी भांति समझनी चाहिये, उसकी उपादानता अविकृतपन और निमित्तत्व पहले ही सिद्ध किया है. अतः जगत् उपासना योग्य नहीं है, यह भी सिद्ध है, जगत् ब्रह्मरूप है, जिसका कारण यह है कि जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सब ब्रह्मसे होती है. दृष्टान्तोंसे जो जगतकी स्थिति और प्रलय अन्यसे कही है वह केवल उदाहरण ही है, बहुत दृष्टान्त इकठ्ठे होनेसे अर्थात् भगवानके स्वरूपको समझानेकेलिये जो अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं वे पूर्णरीतिसे घटित न होनेसे भगवानमें सर्वलक्षण–वाली बुद्धिको उत्पन्न करते हैं, यदि ब्रह्म केवल तर्कसे समझमें आजावे तो उसकी अप्रमाणिकता हो जावे, कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं जो अर्थात् ब्रह्मका वह सत्य ज्ञान पूर्णतः नहीं है, ब्रह्मको समझा सके, अतः ब्रह्म केवल वेदसे ही समझा जा सकता है. ब्रह्मरूप जगत् सदैव नहीं प्रतीत होता है, इसमें भी भगवान् ही हेतु है. दूसरेमें जो जगतके कारणत्वकी कल्पना की जावे. वह भगवानमें ही करनी चाहिये, क्योंकि भगवान् ही सर्व सामर्थ्यवाले हैं जैसे अलग–अलग अधिकरण होने पर विरोधका परिहार हो जाता है अर्थात् विरोध स्वतः मिट जाता है, वैसे एक अधिकरण होते हुए भी विरोध मिट जाता है, जैसे पत्र, लकड़ी, गोंद, पुष्प और फल इन सबका एक बीज ही कारण है, वह बीज सर्व उत्पन्न पदार्थोंसे विलक्षण है, उस विलक्षण बीजकी ही साक्षात् अथवा परम्परासे कारणता समझी जाती है,

इस युक्तिके अनुसार ब्रह्मकी भी इस प्रकार वेदके कथनानुसार कारणता जाननी चाहिये, वेद प्रमाण है यह सिद्ध हो गया है यों मान लेने पर श्रुतिका यथार्थ समर्थन होगा. यदि वैदिक अर्थकी सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे की जायगी तो श्रुतिकी व्यर्थता हो जावेगी. संकेत तो विचार करनेवालोंकी स्वीकृतसे ही होता है, यदि यों न माना जायगा तो उन-उनके मतोंमें आत्मा आदि पदोंका तथा अलौकिक अर्थोंका 'संकेत' असंगत हो जायगा. अतः अद्वितीय आद्यपुरुष ही जगतका कारण है, इस प्रकार भगवान् जगतका कारण है यह सिद्धकर, यह बताया है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ही कार्यत्वसे सिद्ध है. भगवान् ही मोक्षके साधक हैं इसलिये दूसरा विशेषण देते हैं 'तुर्य इति' वह स्वरूप जो समाधिमें जाना जा सकता है. जैसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयको जतानेवाली है वैसे ही तुर्यावस्था भी मोक्षको जताती है. उस अवस्थामें प्रादुर्भूत भगवान् मोक्ष देनेवाले हैं, उनके मोक्ष देनेका प्रकार कहते हैं 'स्वदृक्' जैसे अद्वितीय पुरुष जगतका कारण है. वैसे अपनेमें ही दृष्टिवाला, आत्माके अनुभवसे सन्तुष्ट मोक्षका कारण है, अपना मोक्ष ही सिद्ध करे न कि अन्य उपासकोंका? इस पर कहते हैं कि 'हेतुः' दूसरोंके भी मोक्षमें अपने अंदर दृष्टि होनेमें और चतुर्थ अवस्था अर्थात् मोक्षदशा होनेमें भी, भगवान् ही कारण है, अस्मदादि अन्यका, स्वयं अपनेका, उससे भी कोई मूलभूत आधार वा आश्रयरूप कोई कारण होगा? जिसके उत्तरमें कहते है कि 'अहेतुः' उसका कोई कारण नहीं है, जैसे भगवानकी अपनी इच्छासे सब कुछ होता है, यों कहा जाता है. इस प्रकार सर्व भी सब होवें, क्योंकि श्रुति अभेदका प्रतिपादन करती हैं. इस शंकाके उत्तरमें कहते है, कि 'ईश्वर' आप कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं अतः वह सर्व समर्थ भी स्वयं वैसा ही मूलभूत है, कार्यरूप तो अपनेमेंसे ही उत्पन्न होता है आपमें सर्व सामर्थ्य विद्यमान होनेसे, और ईश्वरकी इच्छाका कोई नियामक नहीं हो सकता है. इस प्रकार सर्व होनेका सामर्थ्य, अलौकिकत्व और निर्दोषपूर्णगुणकत्व प्रतिपादनकर सर्वत्र पूर्णगुणवाला होकर भी, गन्ने, क्षीर, खट्टा, खारा आदि विकारोंका अतिक्रमण न कर, विकारानुसार प्रतीत हो रहे हो. सर्वात्मभावसे प्रतीति न होनेमें, भगवानकी माया ही नियामक है. यदि कहो कि उस मायाके स्वातन्त्र्य और अस्वातन्त्र्य होनेसे फिर भी वह दोष वैसा ही रहेगा? इस पर कहते हैं 'सर्वगुण प्रसिद्धया' सर्वगुणोंकी प्रसिद्धिकेलिये वैसा है, यदि यों न

होवे तो भगवानके सर्वगुण हर कोईमें प्रसिद्ध न होंगे, जैसे षड्रसवाली हरड़े नीरस ही है, स्वभावसे कोई भी रस सबसे विलक्षण प्रतीत नहीं होता है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र सर्वगुणोंको प्रकट करे तो कृसरकी भांति प्रतीत होने लगे अतः भगदिच्छारूप मायासे सब स्थान पर पूर्णगुणवान् हो तो भी विकारानुसार प्रतीत होते हैं, वैसे ही लीलामें, केवल यादवपनको प्रकट करनेकेलिये प्रकट हुवे हैं, अन्यधर्मोंको प्रकट नहीं किया, इस प्रकारका हम लोगोंको भी अज्ञान है यों भाव है।।३८।।

जहां भी कारणसे कार्य उत्पन्न होता है, वहां सर्वत्र कारण प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, जो कारण प्रत्यक्ष देखनेमें न आवे (तो) उस मृत्तिका आदिसे घट आदि बन नहीं सकते, अतः ये पदार्थ यदि ब्रह्मसे बने हैं, तो कारण ब्रह्म भी दृष्टिगोचर होना चाहिये, वह नहीं होता है. इसलिये बह्म कारण है इसमें प्रत्यक्षका विरोध होनेसे ब्रह्म कारण कैसे बन सकेगा? इस शंकाका निवारण 'यथैव सूर्यः' श्लोकसे करते हैं.

यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया छायां च रूपाणि च सश्चकास्ति।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वम् आत्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन्।।३९।।

हे भूमन्! जैसे सूर्य, उत्पन्न की हुई अपनी मेघरूप छायासे ढका हुआ प्रतीत होता है, तो भी सब पदार्थोंको प्रकाशित करता रहता है, ऐसे ही स्वयं प्रकाश आप भी गुणोंसे ढ़के हुए होने पर भी गुणोंको तथा गुणवालोंको प्रकाशित करते हो।।३९।।

वेद कहता है कि मेघ[१] सूर्यसे उत्पन्न होते हैं, सूर्य[२] तपता है, उसकी किरणोंसे बादल वर्षा करते हैं, सूर्य ही मेघ है. यदि यों न होवे तो सवितृपन[३] ही न रहे, इस कारणसे सूर्यसे उत्पन्न भी मेघ जैसे सूर्यको ढ़कनेवाले हैं इस प्रकार भगवानसे उत्पन्न जगत् भी भगवानका आच्छादक अर्थात् ढकनेवाला है, जैसे उन मेघोंको मेघके भीतर रही हुई वृष्टिको, उसके भी नीचेकी भूमिको और पृथ्वी पर पड़े हुए पदार्थोंको स्वयं अदृष्ट होते हुए भी प्रकाशित करते हैं, इसी तरह सबका कारणभूत भगवान् ही सर्वत्र सर्व प्रकाशक हैं, इसलिये किसी प्रकार भी अनुपपत्ति नहीं है, छायाका आशय है बादल अर्थात् छायासे सूर्य ढ़का हुवा है, इसका तात्पर्य है बादलोंसे ढका हुआ है. 'च' शब्दसे मेघोंका कार्य वृष्टिको समझना चाहिये, मेघ छायासे पृथक नहीं हैं सर्व सूर्यरूप ही हैं इसलिये 'स्वया'

पद दिया है. 'रूपाणि' पदका भावार्थ घट आदि पदार्थ है. 'न'से यह सूचित किया है कि उन रूपोंसे उत्पन्न लौकिक और वैदिक क्रियाको भी प्रकाशित करते है. इस प्रकार वैसे कहे हुवे गुणसे स्वयं ही, सब प्रकार गुप्त होते हुए भी गुणीके कारणभूत गुणोंको और कार्योंको प्रकाशित करते हैं और स्वयं स्वस्वरूपसे प्रकाशित हैं. भूमन्! सम्बोधनसे सर्वप्रकार तथा सर्वथा सामर्थ्यको सूचित किया है।।३९।।

१.मेघाः सूर्योद्भूताः इति श्रुति. २.यावदादिस्त पति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्योवर्षति. ३.सूर्यका उत्पन्नकर्तृत्व ही न रहे–सविताका अर्थ है उत्पन्नकर्त्ता वह सूर्यमें न रहे.

भगवान् कारण है, इसमें दूसरा हेतु[१] 'यन्माया मोहितधिय' श्लोकसे प्रतिपादन करते हैं.

१.पुत्र आदि मैत्रि प्रवृत्तिमें भगवान् कारण है जिसमें दूसरा कारण कहते हैं कि भगवान् ही अपनी मायासे पुत्र आदिमें प्रवृत्ति कराते हैं.

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे।।४०।।

जिसको मायासे, मोहित बुद्धिवाले, पुत्र, स्त्री, गृह आदिमें जन्म लेते हैं और मृत्युको प्राप्त होते हैं, क्योंकि विषय दुःखरूप होते हैं तो भी उनमें आसक्त रहते हैं।।४०।।

यह माया ही इष्ट पदार्थोंको प्राप्त करानेवाली है, वैसा ज्ञान ही प्रवृत्ति होनेका कारण है, न कि भगवान् कारण है. ऐसी शंका मिटानेकेलिये कहते हैं कि विवेकवाले भी विषय दुःख देनेवाले है यों देखकर भी उनमें ही आसक्त हो जाते हैं. पुत्र आदिमें आसक्ति इष्ट पदार्थकी प्राप्ति ही लौकिकमें कारण है, इष्ट पदार्थकी प्राप्ति न होते हुए भी जो उसमें प्रवृत्ति होती है जिसमें अवश्य अन्य कारण होगा, प्रत्यक्षमें जो भ्रम होता है, उस भ्रमका निवारण विशेष प्रत्यक्ष ज्ञानसे हो जाता है यह दिङ् मोह आदिमें देखा गया है, यदि यों कहों तो उसका उत्तर है कि दुःखरूप सागरमें आसक्त हैं अर्थात् डूबे हुवे हैं, जिससे उन(पुत्र आदि विषयों)के दोषोंको देखकर भी दुःखका अनुभव करके भी पुत्र, स्त्री, गृह आदिमें उत्पन्न होते हैं, 'अन्तमें जैसी मती वैसी गति' होती हैं, पुत्र आदिमें जीवन पर्यन्त आसक्त रहनेसे वहां ही मरते हैं. 'प्रजामनु प्रजायन्ते' इस वाक्यके अनुसार पुत्रसे उत्पन्न होते है वहां पुत्रकेलिये ही मरते है, वैसे ही स्त्रीमें पुत्ररूपसे उत्पन्न होते हैं,

और स्त्रीकेलिये मरते हैं, घरमें तो उत्पन्न होना और मरना प्रसिद्ध ही है, श्लोकमें 'आदि' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि घोड़े, गदेह आदिमें भी जन्म होता है, क्योंकि अन्तमें जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है, यों भरतकी भांति उन योनियोंमें भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं, इस कारणसे यह अंगीकार करना चाहिये कि ऐसे महान् मोहका कारण कोई भगवानकी शक्ति ही है जिसक प्रत्यक्ष तथा शास्त्र भी उल्लंघन नहींकर सकते हैं।।४०।।

जिन पर भगवानकी आधी कृपा है शोक प्रदर्शित करते हुवे 'देवदत्तम्' इस श्लोकमें कहते हैं.

देवदत्तम् इमं लब्ध्वा नृलोके अजितेन्द्रियः।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः।।४१।।

आप(भगवान्)के दिए हुए इस मनुष्य देहको पाकर, जो इन्द्रियोंको न जीतनेके कारण आपके चरणोंका आदर नहीं करता है, वह आत्मवंचक शोक करने योग्य है।।४१।।

भगवानने विवेक और इन्द्रिययुक्त शरीर देकर जिस पर आधी कृपा की है, वह यदि पूर्णकृपा प्राप्तिकेलिये प्रयत्न नहीं करता है तो वे जो अज्ञानसे मोहको प्राप्त हुवे हैं उनसे भी शोक करने योग्य हैं अर्थात् अज्ञानी मोहित भी उस पर शोक करते हैं, भगवानकी इच्छासे ही जीव मनुष्य देहमें आया है, यदि भगवदिच्छासे आया है तो फिर उनके चरणोंमें आदर क्यों नहीं करता है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि इन्द्रियोंको न जीत सकनेके कारणसे दूसरी तरफ अर्थात् संसारकी तरफ जाता है. अतः भगवत्सेवा नहीं करता है, इसमें उसका क्या दोष है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि सेवा तो दूर रही किन्तु आदर भी नहीं करता है इसमें आसक्ति नियामक है, अतः साधन होते हुए भी साधनको काममें न लानेसे अपनेको नाश करता है, इसलिये शोक करने योग्य हो जाता है और अपनेको ठगनेवाला भी होता है, 'हि' शब्द यह युक्ति सूचित की है, यदि कहो कि दूसरोंकेलिये यों करता है तो वह भी सत्य नहीं है क्योंकि जो अपनेको भी ठगता है वह दूसरोंका क्या उपकारकर सकेगा? दूसरोंके उपकारसे तो वहां अपना ही भला हो जाता है जहां आत्माका वचन नहीं होता हो, वहां परोपकार करना उचित है, अन्यथा स्वयं ही आत्मघाती बनता है, तो उसके उपकारसे क्या लाभ?।।४१।।

जिसने ऐसी मनुष्य देह प्राप्तकर भगनानकी प्राप्ति नहीं की है, उसकी

निन्दाकर, अब प्राप्तकर भी जो त्यागकर देता है उसकी निन्दा करते हैं, यों भगवदियारूप मायाकी स्तुति करते हैं, यदि मायाकी इस प्रकार स्तुति न की जाय तो, वाक्य भेदका प्रसंग आवे, अर्थात् ३४वें श्लोकके अभासमें जो कहा है कि महादेव १२श्लोकोंमें स्तुति करते हैं वह कहना असत्य हो जाता है अतः मायाकी स्तुत्यर्थ ही 'यस्त्वां विसृजते' श्लोक कहा है.

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम्।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन्।।४२।।

जो मनुष्य जड़, अप्रिय और अनीश्वर पुत्रादिकोंकेलिये अपने प्रिय, ईश्वर आप(आत्मा)को छोड़ देता है, वह अमृत त्याग विषका भक्षण करता है।।४२।।

यदि कहा जाय कि भगवानका कोई प्रयोजन नहीं है, तो कहते हैं मनुष्य 'मर्त्यः' मरण धर्मवाला है अतः उसको अमर्त्य आत्माकी आवश्यकता है, इसलिये 'आत्मानं' पद दिया है और यह प्रीतिका विषय है, जिससे आवश्यक न भी हो तो भी प्रीतिवश होनेसे आदर किया जाता है. उसमें भी विशेषता यह है कि 'ईश्वर' है अतः आदर करने योग्य हैं, यदि आदर न किया जावेगा तो मारनेवाला बन जायगा, वैसे तीन प्रकारसे वास्तविक बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यवहारसे आवश्यक होने पर भी जो उनका त्याग करता है, उसमें भी जो इन्द्रियार्थ और रूपादिक जड़ है, अप्रिय है और अनीश्वर है उनकेलिये त्याग करता है, वह अमृत त्याग विष भक्षण करता है, कोई भी ऐसा नहीं है, जिसको नदी पार करनी है वह नौकाका त्यागकर वा नौका देकर शिलाको लेता है, अथवा शिलाकेलिये नौकाका त्याग करता है. जो यों करता है उसकी क्या गति होती है वह कहते हैं कि विषका भक्षण करता है अमृतका त्याग करता है. मरनेवाला अमृत प्राप्त करनेके अनन्तर उसको देकर विषको ग्रहणकर उसका भक्षण करता है तो उसकी जैसी अवस्था होती है वैसी इसकी भी होती है यह भाव है।।४२।।

वैसी दशा आप जैसोंकी भी होगी, इस शंकाका उत्तर 'अहं ब्रह्माथ'से देते हैं.

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्।।४३।।

मैं, ब्रह्मा, देवगण, निर्मल अन्तःकरणवाले मुनिगण भी प्रिय ईश्वर और

आत्मस्वरूप आपके सर्वात्मभावसे शरण हैं।।।४३।।

अर्ध कृपायुक्त अन्य, जैसे भ्रान्त हो, अथवा जैसे प्राप्तकर भी विषयमें आसक्त हो जाते है, वैसे हम नहीं है, किन्तु भिन्न प्रकारसे आपके आश्रित है भगवान् सात्विक होनेसे, दो जो समान है उनकी प्रथम गणना करते हैं, १.मैं(रुद्र) और २.ब्रह्मा, उनसे हीन उनसे नियमित देवगण, उन अधिकारियोंका निरूपण करनेके अनन्तर जो ज्ञानके परायण मुनि हैं उनका वर्णन करते है पृथक् निरूपण करनेका कारण यह है कि वे निर्मल चित्तवाले हैं, साधन परायण अथवा सिद्ध है, निर्मल अन्तःकरणवाले मनुष्य और मुनि कहनेसे सनक आदि भी वैसे हैं, ये तीन प्रकारके भी, और 'च' शब्दसे इनका अनुसरण करनेवाले जो अन्य है उनका भी ग्रहण किया है, वे हम सब सर्वात्मभावसे आपके शरण है, हमारी वैसी प्रवृत्तिमें जो ज्ञान कारण है वह बताते हैं, आप आत्मा है, प्रिय हैं एवम् ईश्वर है, यह ज्ञान हमको हैं जिससे हम सर्वात्मभावसे आपके शरण हैं. पहले ४२वें श्लोकमें कहे हुए प्रेमसे यहां विशेष प्रेम है, उस प्रेमसे ही अन्य साधन सिद्ध हो गये हैं।।४३।।

यदि भगवान् कह दें कि अब तो आप लड़ाई करने आये हैं, जिसके उत्तरमें 'तं त्वां' श्लोकमें कहते हैं कि वह शंका न कीजियेमें आपकी शरण ले रहा हूं.

तं त्वां जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवतम्।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम्।।४४।।

जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और उदयके कारणरूप, सम, अत्यन्त शान्त, मित्र आत्मा, देवतारूप, अनन्य तथा एक ही जगतकी आत्मा और स्थानरूप आप देवका हम भजन करते हैं. क्योंकि आप संसारसे मुक्त करनेवाले हैं, इसीलिए आपका भजन करते हैं।।४४।।

इस प्रकार सबकी उपासना करने योग्य निर्दोषपूर्णगुण विग्रहवाले आपको हम भजते हैं. 'तं' उसको इस पदसे दोनों श्लोकोंका अर्थ ग्रहण किया है अर्थात् आप जो लोक-वेद प्रसिद्ध हो उसको हम भजते हैं. 'सम' विशेषणसे बताया है कि बाहरके कोई दोष आपमें नहीं हैं, 'अशान्त' विशेषणसे अन्तरके दोषोंका अभाव सिद्ध किया है, 'सुहृत्' पद विश्वासकेलिये दिया है, 'आत्मा' पदसे सिद्ध किया है कि आपकी शरण आये हुवेको भय नहीं रहता है. 'दैवत' शब्दसे कहा है कि आपकी शरण लेनेसे इष्ट सिद्धि होती है. भावसे किये

विलक्षणताके अभाव बतानेके वास्ते 'अनन्य' विशेषण दिया है. जिससे अन्य कोई है ही नहीं. भगवानको भी किसीमें अन्य बुद्धि नहीं है, क्योंकि एक आप ही हैं, कार्य भी उनसे पृथक् नहीं है, क्योंकि यह ही जगतकी आत्मा और निवास है, विशेषरूपसे यदि भजनसे अपराधकी निवृत्तिकी प्रार्थना की जावे तो आगे इष्टकी प्रार्थना करनी कठिन हो जावेगी, इसलिये जिससे सर्वदोष निवृत्त हो वैसे मोक्षकेलिये ही प्रार्थना करते हैं जिसकेलिये 'भवापवर्गाय' पद दिया है इस प्रकार शरण आना जिसका लक्षण है ऐसे भजनका निरूपण किया है।।४४।।

'अयं ममेष्टो' श्लोकसे प्रार्थना करते हैं.

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाऽभयं दत्तममुष्य देव।
संपद्यतां तद्भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः।।४५।।

हे देव! यह मेरा प्यारा और इष्ट भक्त है, इसको मैंने अभय दान दिया है, इसलिए जैसी प्रह्लाद पर कृपा की है, जैसी इस पर भी कीजिए।।४५।।

प्रेमीकी इच्छाके अनुकूल कार्य करना चाहिये, यह लोकसे सिद्ध है, 'दयित' पदसे बताया है कि यह मेरा प्रेमपात्र है, इन दोनों शब्दोंसे महादेवको क्या इच्छा और रूचि है जिसका स्पष्टीकरण किया है, यों सब कुछ करनेका कारण यह है कि वह बाण मेरा अनुवर्ती है अर्थात् सेवक है, सदैव मेरे पीछे चलता है, इस कारणसे मुझे भी यों करना चाहिये, इसको मैंने अभय दान दिया है, जिससे वाणीकी अनुकूलता बताई है. पहले 'सेवक' पदसे कायिक अनुकूलता और दयित प्रेमपात्र पदसे मानसिक अनुकूलता कही है, इसलिये इस पर आपको सर्वप्रकारसे कृपा करनी चाहिये, क्योंकि मेरा कहा हुआ वचन आपका ही है, अतः पहले कहा हुआ अनुग्रह प्रसाद इस पर करना चाहिये, अपने दोनोंका भिन्नभाव नहीं है, प्रसाद किस प्रकार करना वह स्पष्टकर बताते है कि जैसे आपने प्रह्लाद पर कृपा की थी वैसी कृपा इस पर भी कीजिये।।४५।।

पश्चात् प्रसन्न हुए भगवानने 'यदात्थ' श्लोकसे कहा कि जो आपने किया वह मैंने किया, इस प्रकार वाणीसे शिवजीको सान्त्वना दी.

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव।
भवता यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्।।४६।।

भगवानने कहा–हे भगवन्! जो आपने कहा, वह आपका प्रिय हम

करेंगे, आपने जो विचार किया है, उसका मैं अनुमोदन करता हूं।।४६।।

हे भगवन्! यह सम्बोधन अपनेसे शिवजीका अभेद बतानेके अभिप्रायसे दिया है, वह भगवानको एक ही समझकर भजते हैं. आप जो कहते हैं वह हमारे लिये योग्य ही है, अथवा आप हमारे हैं अतः आपका प्रिय ही हम करेंगे, कारणकि जो अपने हैं उनका प्रिय करना ही चाहिये, वास्तविक आपके वचनोंका समर्थन करना योग्य ही है, इसलिये भुजाओंको न तोड़नी चाहिये थी वैसी शंका हो तो पहले जो आपने तो 'त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ' श्लोकमें कहा था उसकी स्मृति कराते हुए कहते है कि हम इस वाक्यका अनुमोदन करते हैं क्योंकि वह उचित नहीं है, किया तो आपने है, मैंने तो केवल शास्त्र द्वारा उसका अनुमोदन किया है।।४६।।

तुमने बाणके अभयकी जो मांग की है, जिसके उत्तरमें कहते हैं:

अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनसुतोऽसुरः।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न ते वध्यो मयान्वयः।।४७।।

यह बाण बलिका पुत्र है, अतः मुझे भी इसको मारना नहीं है, कारणकि मैंने प्रह्लादको वर दिया है कि तेरे वंशका वध मैं न करूंगा।।४७।।

यह बाण प्रह्लादके वंशमें है यह बतानेकेलिये तीन पुरुष कहते हैं कि विरोचनका पुत्र बलि है जिसका यह बाण पुत्र है, यदि यों है, तो क्या हुआ? इस पर कहते हैं कि प्रह्लादको मैंने वरदान दिया है कि तेरे वंशका वध नहीं करूंगा, भक्तको ऐसा वचन कैसे दिया? इस पर कहते हैं कि 'असुरः' असुर है, असुर तो वधके योग्य हैं जिससे मारे जाते है, इससे भगवानमें भक्त कृपालुपन, भक्तसे भी विशेष है, वह तो एककी रक्षा चाहता है किन्तु मैं तो उसके वंशकी ही रक्षा कहता हूं।।४७।।

तब भुजाओंका छेदन क्यों किया? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'दर्पोपशमनाय' श्लोकसे देते हैं.

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः।।४८।।

इसके दर्प(अहंकार)को शान्त करनेकेलिए मैंने इसकी भुजाएं तोड़ी हैं और जो पृथ्वी पर भारी बोझ था, उस सब बलको नाश किया।।४८।।

भुजाओंका छेदन इसी प्रकार किया जिससे उनकी जड़ भी कट गई, वे

कट गई इनका कोई उपचार(इलाज) नहीं है, सेनाका वध तो क्लिष्टकर्म है. इसका दूसरा निमित्त बढाते हैं कि यह क्लिष्टकर्म होते हुए भी इसलिये किया गया है कि, यह एक तो पृथ्वी पर बोझ था, दूसरा भक्तोंकी बुद्धिको नाश करनेवाला था. अतः वह सर्व बल ही नाश किया है।।४८।।

तो मेरी प्रार्थना करने पर क्या विशेषता हुई अर्थात् क्या लाभ हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इसकी चार भुजाएं रहेंगी.

चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः।
पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद् भयोऽसुरः।।४९।।

इसकी चार भुजाएं अजर-अमर बची रहेंगी, यह असुर आपका मुख्य पार्षद है, अतः इसको किसीसे भी भय न होगा।।४९।।

मैं इसकी भुजाएं तोड़ रहा हूं, किन्तु उसमेंसे मेरी दी हुई दो भुजाएं और जो भुजाएं आपने दी हैं उनमेंसे दो भुजाए, इस प्रकार इसकी चार भुजाएं बच जायेगी. इस प्रकार कहनेका भावार्थ यह है कि भगवानने भुजाओंको काटनेकेलिये इस समय सुदर्शन फेंका है विशेष दो भुजा दान करनेका कारण यह है कि महादेवके पार्षदोंमें यह मुख्य है, उनका कालान्तरमें भी नाश न होगा, यह बतानेकेलिये कहते हैं कि 'अजरामरा' ये शेष भुजाएं अजर और अमर है, अजर और अमरत्व कहकर इसका देवत्व सिद्ध किया है. इसका देवत्व उचित ही है, क्योंकि तुम्हारा मुख्य पार्षद है, अब इसको असुर होते हुए भी मुझसे, मेरे भक्तोंसे और मेरे गुणों आदिसे कोई भी भय न होगा।।४९।।

इस प्रकार अभय दान मिल जाने पर और भगवानने कृपादृष्टिसे अवलोकन भी किया, जिससे वह बाण अपने योग्य कर्त्तव्य पालने लगा.

इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत्।।५०।।

इस प्रकार वह असुर श्रीकृष्णसे अभय प्राप्तकर, उनको मस्तकसे प्रणाम करनेके अनन्तर प्रद्युम्नके पुत्र भगवानके पौत्रको स्त्रीसहित रथमें बिठाकर भगवानके पास ले आया।।५०।।

अभय प्राप्तकर, श्रीकृष्णको प्रणामकर कन्याके दान देने पर प्रसन्न होंगे, सिरसे प्रणाम करना ही इसकेलिये महान् है. कारणकि असुर है, असुर अभिमानी होते हैं किसीको सिरसे प्रणाम नहीं करते हैं, किन्तु यहां यों कर अपना

गर्वाभाव दिखाया है, 'प्राद्युम्नि' अर्थात् भगवानके पौत्रको उसको जो बन्धन पड़े थे वे खोलकर, वरकी तरह अलंकृतकर 'उषा'के साथ रथमें बिठलाकर अच्छी तरह अर्थात् प्रेमसे आदरके साथ भगवानके समीप ले आये, भगवान् इस कार्यकेलिये अर्थात् अनिरुद्धको लानेकेलिये आये थे, इसलिये बाणके इस प्रकारके कार्यसे भगवान् प्रसन्न हुए।।५०।।

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवाससमलंकृतम्।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः।।५१।।

अक्षौहिणी सेनासे घिरा हुआ, सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित पत्नी समेत पौत्रको आगेकर रुद्रसे अनुमोदित श्रीकृष्ण द्वारका पधारे।।५१।।

जिस अक्षौहिणी सेनासे वर घिरा हुआ था, वह सेना बाणने दहेजमें दी थी, इसी प्रकार, सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे वर सुसज्जित था. वे वस्तु तथा आभूषण भी बाणके दिये हुए थे, बाणने वरको इसी ठाठसे लाकर भगवानके समीप खड़ा किया अनन्तर जो कुछ भगवानने किया जिसका वर्णन करते हैं, रुद्रने भी बाणके इस कार्यका अनुमोदन किया यह देख भगवान् श्रीकृष्णने पत्नीसहित पौत्रको आगे किया और सबको ले द्वारका पधारे, 'कृष्णानुमोदित' पाठ हो तो भी इसका अर्थ यही होता है कि रुद्रसे अनुमोदित, इससे यह दिखाया है कि रुद्र पर भगवानकी कृपा है, जाम्बवतकी तरह शिक्षा देनेकेलिये यह निग्रह अर्थात् पराभव किया है।।५१।।

अपना कार्य सिद्धकर भगवानके पुनः पधारने पर द्वारकापुरी कैसी बनी जिसका वर्णन करते है, विवाहोत्सवके समय पुरीका वर्णन हुआ था अतः अब 'स्वराजधानीं' श्लोकसे वर्णन करते है.

स्वराजधानीं समलंकृतां ध्वजैः सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम्।
विवेश शङ्खानकदुन्दुभिस्वनैरभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः।।५२।।

नगरीके लोक, मित्र और द्विज सत्कारार्थ सामने आए, सत्कार होने पर भगवानने शंख, आनक और नगारोंकी ध्वनिसे गूंज रही, तोरण और ध्वजाओंसे शोभित, चारोंओर मार्ग और चौहाटों पर छिरकाव की हुई अपनी राजधानी द्वारकामें प्रवेश किया।।५२।।

यों कहनेसे यह सूचित किया है कि विधिके अनुसार विवाह उस(बाण) ने राजधानीमें आनेके पश्चात् वहां किया है, अपनी राजधानी है इसलिये आने पर

ही प्रसन्नता हुई है, ध्वजा और तोरणोंसे राजधानीके ऊपरके भागकी शोभाका वर्णन किया है और मार्गमें चारोंतरफ सुगन्धित जलके छिरकावसे नीचेके भागकी शोभा कही है, आनक और दुन्दुभियोंको बजाते हुए जो नागरिक, मित्र और ब्राह्मणोंने सामने आकर सत्कार किया, जिससे नगरोके मध्यभागकी शोभाका वर्णन किया है, नगरवासी तामस, सुहृद राजस, यों सर्वप्रकारकी जनता वहां विवाहोत्सवमें आई थीं, जिससे यह विवाह सर्वको सम्मत था, यह जतानेकेलिये यह वर्णन किया है।।५२।।

प्रकरणकी समाप्ति पर, इसके श्रवणका फल कहते हैं.

य एतत् कृष्ण विजयं शंकरेण च संयुगम्।
संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः।।५३।।

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर इस श्रीकृष्णके विजयकी और शंकर युद्धकी कथाका स्मरण करेगा, उसकी पराजय कभी भी न होगी।।५३।।

नित्यप्रति जो इसप्रकारका स्मरण करेगा उसका इन्द्रिय अन्तःकरण आदिसे पराजय न होगा अर्थात् इन्द्रिय आदि उसको असत्पथ पर न ले जा सकेगी, किन्तु जिन राजसोंका निरोध हो गया है और प्रपंच भी विस्मृत हो गया है उनको भी कभी कालादि कृत उपद्रवोंसे उद्वेग हो जाता है, इसलिये फल निरूपणके समय वह अवश्य बताना चाहिये, कि जिस समय इन्द्रियादिसे पराजयकी सम्भावना होवे उस समय तो अवश्य यह चरित्र स्मरण करना चाहिये, नित्य प्रातःकालके स्मरण करनेसे ऐसी पराभवकी सम्भावना होगी ही नहीं अतः नित्य स्मरण करना चाहिये।।५३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (उत्तरार्ध) अध्याय ६० की श्रीवल्लभाचायचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाके राजस फल अवान्तर प्रकरणके सप्तम अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण